

Chapter सोलह

राजा चित्रकेतु की परमेश्वर से भेंट

इस अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार चित्रकेतु अपने मृत पुत्र से बातें कर सका और उससे जीवन के सत्य के सम्बन्ध में बातें सुन सका। जब चित्रकेतु शान्त हुआ तो नारद मुनि ने उसे एक मंत्र दिया जिसके जप से वह संकर्षण के चरणारविन्द में शरण प्राप्त कर सका।

जीवात्मा नित्य है। न तो उसका जन्म होता है और न मृत्यु होती है (*न हन्यते हन्यमाने शरीरे*)। अपने कर्म-बन्धनों के फल के अनुसार मनुष्य विभिन्न योनियों यथा पक्षी, पशु, वृक्ष, मनुष्य, देवता इत्यादि के अन्तर्गत जन्म लेता है और विविध शरीरों में चक्कर लगाता रहता है। कुछ काल के लिए वह पुत्र या पिता जैसे झूठे नाते के लिए विशेष शरीर धारण करता है। इसी भौतिक जगत में मित्रों, सम्बन्धियों अथवा शत्रुओं के साथ हमारे जितने नाते हैं, वे द्वैतपूर्ण हैं जिनमें मोह

के कारण वह सुखा तथा दुखी होता रहता है। वास्तविक जीवात्मा तो आध्यात्मिक आत्मा है, जो ईश्वर का भिन्न-अंश है और द्वैत संसार से उसका कोई सरोकार नहीं होता। इसलिए नारद मुनि ने चित्रकेतु को उपदेश दिया कि वह अपने तथाकथित पुत्र की मृत्यु पर शोक न करे।

जब चित्रकेतु तथा उसकी पत्नी ने अपने मृत पुत्र से सारे उपदेश सुने तो उनकी समझ में आया कि इस संसार के सारे नाते ही दुख के कारण हैं। जिन रानियों ने कृतघृति के पुत्र को विष दिया था वे अत्यन्त लज्जित हुईं। उन्होंने शिशु-हत्या का जो जघन्य अपराध किया था उसके लिए प्रायश्चित्त किया और पुत्र-प्राप्ति की अपनी-अपनी कामनाएँ त्याग दीं। तत्पश्चात् नारद मुनि ने नारायण की स्तुति की, जो चतुर्व्यूह रूप में विद्यमान हैं। उन्होंने चित्रकेतु को भौतिक प्रकृति के स्वामी तथा प्रत्येक वस्तु के कर्ता, पालक एवं संहारक परमेश्वर के सम्बन्ध में उपदेश दिया। राजा चित्रकेतु को उपदेश देने के बाद वे ब्रह्मलोक वापस चले गये। परम सत्य के सम्बन्ध में दिये गये ये उपदेश *महाविद्या* के नाम से प्रसिद्ध हैं। नारद मुनि से दीक्षा लेने के पश्चात् राजा चित्रकेतु ने *महाविद्या* का जप किया और एक सप्ताह के बाद चार कुमारों से घिरे हुए भगवान् संकर्षण ने उसे दर्शन दिया। भगवान् ने सुन्दर नीला वस्त्र धारण कर रखा था। वे मुकुट तथा स्वर्णाभूषणों से सुशोभित थे। उनका मुख-मण्डल अत्यन्त प्रसन्न प्रतीत हो रहा था। भगवान् संकर्षण को चित्रकेतु ने नमस्कार किया और फिर उनकी अर्चना की।

अपनी प्रार्थना में चित्रकेतु ने कहा कि संकर्षण के रोमों में करोड़ों ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं; उनका न तो आदि है और न अन्त, वे अनन्त हैं। भगवान् के भक्त जानते हैं कि वे शाश्वत हैं। भगवान् की पूजा और देवताओं की पूजा में यह अन्तर है कि भगवान् का उपासक भी शाश्वत हो जाता है, किन्तु देवताओं से प्राप्त आशीर्वाद अनित्य होते हैं। बिना भक्त बने कोई पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाता।

जब चित्रकेतु ने अपनी प्रार्थना समाप्त की तो अनन्त परमेश्वर ने चित्रकेतु को अपना ज्ञान प्रदान किया।

श्रीबादरायणिरुवाच

अथ देवऋषी राजन्सम्परेतं नृपात्मजम् ।
दर्शयित्वेति होवाच ज्ञातीनामनुशोचताम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—इस प्रकार; देव-ऋषिः—परम साधु नारद; राजन्—हे राजन्; सम्परेतम्—मृत; नृप-आत्मजम्—राजा के पुत्र को; दर्शयित्वा—दिखलाकर; इति—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; उवाच—बताया; ज्ञातीनाम्—समस्त सम्बन्धियों को; अनुशोचताम्—शोक करने वाले ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजा परीक्षित! नारद ऋषि ने अपनी योगशक्ति से शोकाकुल स्वजनों के समक्ष उस पुत्र को ला दिया और फिर वे इस प्रकार बोले ।

श्रीनारद उवाच

जीवात्मन्यश्य भद्रं ते मातरं पितरं च ते ।
सुहृदो बान्धवास्तप्ताः शुचा त्वत्कृतया भृशम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; जीव-आत्मन्—हे जीवात्मा; पश्य—देखो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारे; मातरम्—माता; पितरम्—पिता; च—तथा; ते—तुम्हारे; सुहृदः—मित्र; बान्धवाः—सम्बन्धी; तप्ताः—संतप्त, दुखी; शुचा—शोक से; त्वत्-कृतया—तुम्हारे कारण; भृशम्—अत्यधिक ।

श्री नारद मुनि ने कहा—हे जीवात्मा! तुम्हारा कल्याण हो । जरा अपने माता-पिता को तो देखो । तुम्हारे चले जाने (मरने) से तुम्हारे समस्त मित्र तथा सम्बन्धी शोकाकुल हैं ।

कलेवरं स्वमाविश्य शेषमायुः सुहृद्वृतः ।
भुङ्क्ष्व भोगान्पितृप्रदानधितिष्ठ नृपासनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कलेवरम्—शरीर में; स्वम्—अपना; आविश्य—प्रवेश करके; शेषम्—शेष, बाकी; आयुः—जीवन अवधि; सुहृद्वृतः—अपने मित्र तथा सम्बन्धियों से घिरे हुए; भुङ्क्ष्व—भोग करो; भोगान्—समस्त भोग्य ऐश्वर्य; पितृ—अपने पिता द्वारा; प्रदान्—प्रदत्त; अधितिष्ठ—स्वीकार करो; नृप-आसनम्—राजसिंहासन को ।

तुम असमय ही मरे थे इसलिए तुम्हारी आयु अब भी शेष है । अतः तुम अपने शरीर में पुनः प्रवेश करके अपने मित्रों तथा स्वजनों की संगति में शेष जीवन का भोग करो । अपने पिता द्वारा प्रदत्त यह समस्त ऐश्वर्य तथा राजसिंहासन स्वीकार करो ।

जीव उवाच

कस्मिञ्जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवन् ।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणस्य देवतिर्यङ्मृयोनिषु ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

जीवः उवाच—जीवात्मा ने कहा; कस्मिन्—किस; जन्मनि—जन्म में; अमी—ये सब; मह्यम्—मुझको; पितरः—पितृगण; मातरः—माताएँ; अभवन्—थे; कर्मभिः—कर्मफल से; भ्राम्यमाणस्य—भ्रमण करने वालों के; देव-तिर्यक्—देवताओं तथा निम्न पशुओं के; नृ—तथा मनुष्य जाति के; योनिषु—गर्भों में।

नारद मुनि की योगशक्ति से जीवात्मा थोड़े समय के लिए मृत शरीर में पुनः प्रविष्ट हुआ और नारद मुनि के अनुरोध पर इस प्रकार बोला, “मैं (जीव) अपने कर्म-फलों के अनुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तर करता रहता हूँ; इस प्रकार कभी देवताओं की योनि में रहता हूँ तो कभी निम्न पशुओं, अथवा वनस्पतियों में और कभी मनुष्य योनि में रहता हूँ। अतः ये किस जन्म में मेरे माता तथा पिता थे? वास्तव में न तो कोई मेरी माता है और न कोई पिता। तो मैं इन दोनों व्यक्तियों को अपने माता-पिता के रूप में कैसे स्वीकार कर सकता हूँ?”

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जीव भौतिक देह में प्रवेश करता है, जो कि एक यंत्र (मशीन) के तुल्य है, जिसकी रचना पाँच स्थूल तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि वायु तथा आकाश) तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों (मन, बुद्धि तथा अहंकार) से हुई है। जैसा कि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, उत्तम तथा अधम-ये दो प्रकार की प्रकृतियाँ हैं और इन दोनों का सम्बन्ध श्रीभगवान् से है। जीवात्मा के कर्म-फल के अनुसार ही जीव विभिन्न प्रकार की भौतिक देहों में प्रवेश करने के लिए बाध्य है।

यहाँ पर वह जीवात्मा महाराज चित्रकेतु तथा रानी कृतद्युति का पुत्र ही माना गया था क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार वह राजा तथा रानी द्वारा निर्मित शरीर में प्रविष्ट हुआ था। किन्तु वास्तव में वह उनका पुत्र नहीं था। जीवात्मा तो श्रीभगवान् का पुत्र है और चूँकि वह इस जगत का भोग करना चाहता है, अतः परमेश्वर उसे विभिन्न देहों में प्रविष्ट होने का अवसर प्रदान करते हैं।

जीवात्मा का उस भौतिक देह से कोई सच्चा सम्बन्ध नहीं होता जिसे वह अपने माता-पिता से प्राप्त करता है। वह तो परमात्मा का भिन्न अंश होता है किन्तु विभिन्न देहों में जाने के लिए उसे छूट मिली रहती है। तथाकथित माता-पिता द्वारा प्रदत्त शरीर का वास्तव में इसके तथाकथित सृष्टिकर्ताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए जीवात्मा ने सीधे नकार दिया कि महाराज चित्रकेतु तथा उसकी पत्नी उसके माता-पिता थे।

बन्धुजात्यरिमध्यस्थमित्रोदासीनविद्विषः ।

सर्व एव हि सर्वेषां भवन्ति क्रमशो मिथः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

बन्धु—दोस्त; ज्ञाति—कुटुम्बी; अरि—शत्रु; मध्यस्थ—बिचौलिए; मित्र—शुभचिन्तक; उदासीन—उदासीन; विद्विषः—अथवा द्वेषी; सर्वे—सभी; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; सर्वेषाम्—सबों का; भवन्ति—होते हैं; क्रमशः—धीरे-धीरे; मिथः—परस्पर।

यह भौतिक जगत नदी की भाँति प्रवहमान है, जो अपने जीवात्मा को लिये जा रही है और जिसमें सभी लोग समयानुसार मित्र, कुटुम्बी तथा शत्रु बनते रहते हैं। वे उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी तथा कई अन्य प्रकारों से कार्य करते हैं। इतने पर भी कोई किसी से स्थायी रूप से सम्बद्ध नहीं है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में यह हमारा व्यवहारसिद्ध अनुभव है कि जो व्यक्ति आज किसी का मित्र है, वही कल उसका शत्रु बन जाता है। मित्र अथवा शत्रु, परिजन या बाहरी लोग जैसे सम्बन्ध वास्तव में हमारे भिन्न-भिन्न व्यवहारों से उत्पन्न हैं। चित्रकेतु महाराज अपने मृत पुत्र के लिए शोक कर रहे थे, किन्तु वे चाहते तो इस स्थिति को भिन्न रूप में सोच सकते थे। वे यह सोच सकते थे कि जीवात्मा पिछले जन्म में मेरा शत्रु था, जो अब मेरा पुत्र बनकर उत्पन्न हुआ और मुझे कष्ट पहुँचाने के लिए असमय प्रयाण कर रहा है। तो अपने मृत पुत्र को अपना शत्रु सोचकर वे शोक करने के बजाय अपने शत्रु की मृत्यु पर उल्लसित क्यों नहीं हुए? जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः*—वास्तव में प्रकृति के गुणों

की संगति से ही सब कुछ घटित होता है। अतः सतोगुण की संगति से जो आज मेरा मित्र है, वही कल रजो तथा तमो गुणों की संगति से मेरा शत्रु बन सकता है। प्रकृति के इन गुणों के कार्यशील होने से ही हम मोहवश अन्यो को मित्र, शत्रु, पुत्र या पिता मान बैठते हैं।

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः ।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; वस्तूनि—वस्तुएँ; पण्यानि—क्रय-विक्रय के हेतु; हेम-आदीनि—यथा सोना; ततः ततः—यहाँ से वहाँ; पर्यटन्ति—घूमते रहते हैं; नरेषु—मनुष्यों के बीच; एवम्—इस प्रकार; जीवः—जीवात्मा; योनिषु—विभिन्न योनियों में; कर्तृषु—विभिन्न भौतिक पिता के रूपों में।

जिस प्रकार सोना तथा अन्य व्यापारिक वस्तुएँ समय-समय पर क्रम-विक्रम के कारण लगातार एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित होती रहती हैं उसी प्रकार जीवात्मा भी अपने कर्मों के कारण पूरे ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है चित्रकेतु का पुत्र उसका शत्रु था और अब उसे दारुण दुख देने के लिए ही पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ था। निस्सन्देह, पुत्र के असामयिक निधन से पिता को गहरा शोक हुआ। चाहे तो कोई तर्क कर सकता है—“यदि पुत्र राजा का शत्रु था, तो फिर उसके लिए राजा के हृदय में इतना स्नेह क्यों?” इसका उत्तर यह है कि शत्रु के हाथ में किसी की सम्पत्ति चली जाती है, तो वह सम्पत्ति शत्रु की मित्र बन जाती है, वह उसे अपने कार्य के लिए उपयोग में ला सकता है। यही नहीं, यदि चाहे तो वह पहले स्वामी को उसके द्वारा हानि भी पहुँचा सकता है। अतः वह सम्पत्ति दो में से किसी की भी नहीं रहती। सम्पत्ति तो सदा सम्पत्ति रहती है, किन्तु विभिन्न अवस्थाओं में इसे मित्र या शत्रु के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है।

जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जीवात्मा को जन्म देने वाला न तो कोई पिता है, न माता। जीवात्मा तथाकथित पिता-माता से पृथक् स्वरूप है। प्रकृति के नियमानुसार जीवात्मा पिता

के वीर्य में प्रविष्ट होकर माँ के गर्भ में अन्तः क्षेपण किया जाता है। उसे यह चुनने की छूट नहीं है कि कौन उसका पिता हो। *प्रकृतेः क्रियमाणानि*—प्रकृति के नियम उसे बाध्य करके भिन्न-भिन्न माताओं तथा पिताओं के पास भेजते हैं मानो खरीदी तथा बेची जाने वाली कोई सामग्री हो। अतः पिता तथा पुत्र का तथाकथित सम्बन्ध प्रकृति की व्यवस्था है। इसका कोई अर्थ नहीं है, अतः यह मोह कहलाती है।

वही जीवात्मा कभी पशु रूपी माता-पिता की शरण ग्रहण करता है, तो कभी मानव माता-पिता की। कभी कभी वह पक्षियों के मध्य माता-पिता को स्वीकार करता है और कभी कभी वह किसी देवता को माता-पिता स्वीकार करता है। लोकों तथा योनियों में प्रकृति के नियमों से बारम्बार प्रताड़ित होकर जीवात्मा ब्रह्माण्ड भर में चक्कर लगाता है। यदि संयोगवश वह किसी भक्त के सम्पर्क में आता है, तो उसका जीवन सुधर जाता है। तब जीवात्मा परम धाम को वापस जाता है। इसलिए श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव ।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥

जनमे जनमे सबे पिता माता पाय ।

कृष्ण गुरु नहीं मिले बज हरि एइ ॥

विभिन्न देहों में आत्मा के देहान्तरण से प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक जीवन में, चाहे वह मनुष्य का हो या पशु, वृक्ष या देवता का हो, माता तथा पिता की प्राप्ति करता है। इतना मिलना कठिन नहीं। कठिन तो है परम गुरु तथा श्रीकृष्ण को पा लेना। अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वह कृष्ण के प्रतिनिधि अर्थात् गुरु के सम्पर्क में आने के अवसर को पकड़े। गुरु या आत्म-पिता के पथप्रदर्शन से परम धाम वापस जाना सहज है।

नित्यस्यार्थस्य सम्बन्धो ह्यनित्यो दृश्यते नृषु ।

यावद्यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

नित्यस्य—नित्य; अर्थस्य—वस्तु का; सम्बन्धः—सम्बन्ध; हि—निस्सन्देह; अनित्यः—अनित्य, क्षणिक; दृश्यते—दिखाई पड़ता है; नृषु—मानव समाज में; यावत्—जब तक; यस्य—जिसका; हि—निस्सन्देह; सम्बन्धः—सम्बन्धः; ममत्वम्—मालिकाना, ममता; तावत्—तब तक; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही।

कुछ ही जीवात्माएँ मनुष्य योनि में जन्म लेती हैं और शेष दूसरी पशु-योनि में जन्मती हैं। यद्यपि ये दोनों ही जीवात्माएँ हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध अस्थायी हैं। कोई पशु किसी मनुष्य के अधिकार में कुछ काल तक रहकर किसी दूसरे के अधिकार में जा सकता है। जब पशु चला जाता है पहले वाले मालिक का स्वामित्व भी चला जाता है। जब तक वह पशु उसके अधिकार में रहता है, उसके प्रति उसका लगाव रहता है, किन्तु उसको बेचते ही सारा लगाव छूट जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में दिये गये उदाहरण से स्पष्ट है कि आत्मा का देहान्तरण एक शरीर से दूसरे में होने के साथ ही इस जीवन में भी जीवात्माओं के बीच के सम्बन्ध अस्थायी हैं। चित्रकेतु के पुत्र का नाम हर्षशोक अथवा हर्ष तथा शोक था। जीवात्मा निश्चय ही नित्य है, किन्तु शरीर रूपी अनित्य परिधान से आवृत होने से उसकी अनित्यता प्रकट नहीं होती। देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा—“इस शरीर के साथ लगा आत्मा निरन्तर बाल्यपन से तरुणावस्था और फिर बुढ़ापे में जाता रहता है।” इस प्रकार यह शारीरिक परिधान अस्थायी है। किन्तु जीवात्मा स्थायी है। जिस प्रकार पशु एक स्वामी से दूसरे स्वामी के यहाँ चला जाता है। उसी प्रकार जीवात्मा, जो कुछ काल तक चित्रकेतु के पुत्र रूप में था वही जब अन्य शरीर में प्रविष्ट हो गया तो सारा स्नेह-सम्बन्ध टूट गया। जैसाकि पिछले श्लोक में दिए उदाहरण में कहा गया है, जब कोई व्यापारिक सामग्री किसी के हाथ में रहती है, तो उसकी होती है, किन्तु दूसरे के हाथ में पहुँचते ही वह पराई हो जाती है। तब न तो उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध रह जाता है, न ही वह स्नेह और शोक करता है।

एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृतः ।

यावद्यत्रोपलभ्येत तावत्स्वत्वं हि तस्य तत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; योनि-गतः—किसी विशेष योनि में जाकर; जीवः—जीवात्मा; सः—वह; नित्यः—नित्य, शाश्वत; निरहङ्कृतः—अहंकाररहित; यावत्—जब तक; यत्र—जहाँ; उपलभ्येत—वह पाया जा सकता है; तावत्—तब तक; स्वत्वम्—स्व का ज्ञान; हि—निस्सन्देह; तस्य—उसका; तत्—वह।

भले ही एक जीवात्मा मर्त्यदेहों के सम्बन्धों के कारण दूसरी जीवात्मा से सम्बद्ध जान पड़े, किन्तु जीवात्मा शाश्वत है। वास्तव में शरीर ही जन्मता है और नष्ट होता है, जीवात्मा नहीं। हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि जीवात्मा की उत्पत्ति या मृत्यु होती है। जीवात्मा का तथाकथित माता-पिता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जब तक जीवात्मा अपने पूर्व कर्म के फलस्वरूप किन्हीं माता-पिता का पुत्र बन कर प्रकट होता है तभी तक माता-पिता द्वारा प्रदत्त शरीर से उसका नाता रहता है। इस प्रकार वह अपने को मिथ्या ही उनका पुत्र मानकर अत्यन्त स्नेह जताता है। मरने के बाद यह सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य को झूठे ही हर्ष तथा शोक में लीन नहीं होना चाहिए।

तात्पर्य : जब जीवात्मा शरीर के अन्दर रहता है, तो वह अपने को झूठे ही शरीर मान बैठता है यद्यपि वास्तव में ऐसा नहीं है। अपने शरीर एवं तथाकथित माता-पिता के साथ उसका सम्बन्ध झूठा रहता है, यह मोह-बुद्धि है। जब तक कोई जीवात्मा की वास्तविकता से अवगत नहीं हो लेता मनुष्य इसी मोह में पड़ा रहता है।

एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् ।

आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजते प्रभुः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह जीवात्मा; नित्यः—नित्य, शाश्वत; अव्ययः—अविनाशी; सूक्ष्मः—सूक्ष्म (आँख से न दिखाई पड़ने वाला); एषः—यह जीवात्मा; सर्व-आश्रयः—विभिन्न प्रकार के देहों का कारण; स्व-दृक्—स्वयं-तेज; आत्म-माया-गुणैः—श्रीभगवान् की माया के गुणों द्वारा; विश्वम्—इस भौतिक जगत में; आत्मानम्—अपने आपको; सृजते—प्रकट कर देता है; प्रभुः—स्वामी।

जीवात्मा नित्य तथा अविनाशी है क्योंकि इसका आदि तथा अन्त नहीं है। न तो उसका जन्म होता है, न मृत्यु। वह समस्त प्रकार की देहों का मूल है, तो भी उसकी दैहिक वर्ग में

गिनती नहीं होती। जीवात्मा इतना उच्च है कि परमात्मा के ही समधर्मा है। तो भी, अत्यन्त सूक्ष्म होने से वह बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होता रहता है और अपनी इच्छाओं के अनुसार अपने लिए विभिन्न देहें उत्पन्न करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अचिन्त्य-भेदाभेद* दर्शन का वर्णन है। जीवात्मा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही समान नित्य है, अन्तर इतना ही है कि परमात्मा विराट है, उससे बड़ा कोई नहीं है न ही उसके समान कोई है, जबकि जीवात्मा सूक्ष्म है। शास्त्रों का कथन है कि जीवात्मा बाल के अग्रभाग के दस-हजारवें भाग के तुल्य है। परमात्मा सर्वव्यापी है (*अण्डान्तरस्थ-परमाणु-चयान्तरस्थम्*)। यदि सापेक्षतया जीवात्मा को सूक्ष्म (अति लघु) मान लिया जाता है, तो प्रश्न उठता है कि फिर सबसे बड़ा (विराट) कौन है? विराट तो श्रीभगवान् हैं और जीवात्मा अति लघु।

जीव की दूसरी विशेषता यह है कि वह माया से *आच्छन्न* हो जाता है। *आत्ममाया गुणैः*—वह श्रीभगवान् की माया से आवृत्त होने वाला है। जीवात्मा ही इस जगत में बद्ध-जीवन के लिए उत्तरदायी है इसीलिए उसे प्रभु (स्वामी) कहा जाता है। यदि वह चाहे तो इस जगत में आ सकता है और चाहे तो भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। चूँकि वह भौतिक जगत का सुख उठाना चाहता है इसलिए श्रीभगवान् ने माया के माध्यम से उसे भौतिक शरीर प्रदान किया है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देश्जुर्न तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

“हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में बैठा है। वही देहरूपी यंत्र में आरूढ़ सब जीवों को अपनी मायाशक्ति से घुमा रहा है।” परमात्मा जीवात्मा को अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी इच्छानुसार इस जगत का सुखोपभोग कर ले, किन्तु साथ ही भगवान् अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं कि जीवात्मा समस्त आकांक्षाओं को त्याग कर उनको समर्पण करके परम धाम को वापस

जाए।

जीवात्मा अत्यन्त लघु (सूक्ष्म) है। इस प्रसंग में जीव गोस्वामी का कथन है कि भौतिक वैज्ञानियों के लिए शरीर में जीवात्मा ढूँढ पाना अत्यन्त दुष्कर है यद्यपि हमें विद्वानों से यह ज्ञात है कि जीवात्मा शरीर के भीतर ही है। शरीर जीवात्मा से भिन्न है।

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा ।
एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्तृणां गुणदोषयोः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; हि—निस्सन्देह; अस्य—जीवात्मा का; अस्ति—है; प्रियः—प्रिय; कश्चित्—कोई; न—न तो; अप्रियः—अप्रिय; स्वः—अपना; परः—पराया; अपि—भी; वा—अथवा; एकः—एक; सर्व-धियाम्—बुद्धि के विभिन्न प्रकारों का; द्रष्टा—देखने वाला; कर्तृणाम्—करने वालों का; गुण-दोषयोः—गुण तथा दोष का, उचित-अनुचित का।

इस जीवात्मा को न तो कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय। यह अपने पराये में भेद-भाव नहीं रखता। यह अनन्य है, अर्थात् यह न तो मित्रों तथा शत्रुओं, न ही शुभचिन्तकों या दुराग्रह करने वालों से प्रभावित होता है। यह मनुष्यों के विभिन्न गुणों का मात्र दर्शक अथवा साक्षी है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, जीवात्मा तथा श्रीभगवान् के गुण एक से हैं, किन्तु जीव सूक्ष्म होने के कारण इन्हें कम, मात्रा में रखता है, जबकि परमात्मा सर्वव्यापी तथा विराट हैं। परमात्मा के न तो मित्र हैं, न शत्रु या सम्बन्धी ही, क्योंकि वे बद्धजीवों की सभी प्रकार की अयोग्यताओं से वे परे हैं। दूसरी ओर वे अपने भक्तों पर अत्यन्त अनुकूल एवं दयालु रहते हैं। वे उन व्यक्तियों से तनिक भी प्रसन्न नहीं होते जो उनके भक्तों से ईर्ष्या करते हैं। *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् ने स्वयं इसकी पुष्टि की है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽमस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

“मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ और न किसी का पक्षपात; मेरा तो जीवमात्र में सम-भाव

है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे मित्र हैं और मुझमें ही स्थित हैं और मैं भी उनका मित्र हूँ।” परमेश्वर के न तो शत्रु हैं न मित्र, किन्तु वे उस भक्त के प्रति अनुकूल हैं, जो उनकी भक्ति में सदा लगा रहता है। इसी प्रकार भगवान् *गीता* (१६.१९) में अन्यत्र कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

“वे जो ईष्यालु हैं और दुराग्रही हैं उन नराधमों को मैं भवसागर में निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।” ईश्वर उनके परम विरुद्ध रहते हैं, जो उनके भक्तों से द्वेष रखते हैं। अपने भक्तों की रक्षा के लिए कभी-कभी ईश्वर को उनके शत्रुओं का वध भी करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, प्रह्लाद महाराज की रक्षा के लिए उन्हें उनके शत्रु हिरण्यकशिपु का वध करना पड़ा यद्यपि उनके द्वारा मारे जाने से उसे मोक्ष मिल गया। चूँकि ईश्वर सबके कार्यों का साक्षी है, अतः वह अपने भक्तों के शत्रुओं के कार्यों को देखता रहता है और उनको दण्ड देने के लिए उद्यत रहता है। किन्तु अन्य जीवात्माओं के कार्यों का वह साक्षी भर रहता है और उन्हें पाप या पुण्य कर्मों के अनुसार फल देता है।

नादत्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम् ।

उदासीनवदासीनः परावरदृगीश्वरः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आदत्ते—स्वीकार करता है; आत्मा—परमात्मा; हि—निश्चय ही; गुणम्—सुख; न—नहीं; दोषम्—दुख; न—न तो; क्रिया-फलम्—किसी कर्म का फल; उदासीन-वत्—उदासीन पुरुष की तरह; आसीनः—बैठे हुए (हृदय में); पर-अवर-दृक्—कार्य और कारण को देखते हुए; ईश्वरः—परमेश्वर।

कार्य और कारण का स्रष्टा यह आत्मा सकाम कर्मों से जनित सुख तथा दुख को स्वीकार नहीं करता। वह भौतिक देह स्वीकार करने या न करने के लिए परम स्वतंत्र है और भौतिक शरीर न होने के कारण वह सदैव उदासीन या तटस्थ रहता है। जीवात्मा ईश्वर का भिन्न अंश है और सूक्ष्म मात्रा में उनके गुणों को धारण किए रहता है। अतः मनुष्य को शोक

से प्रभावित नहीं होना चाहिए।

तात्पर्य : बद्धजीव के शत्रु तथा मित्र दोनों होते हैं। वह अपनी स्थिति के कारण गुण और दोषों से प्रभावित होता है। किन्तु परमेश्वर तो सदैव दिव्य है। ईश्वर होने से द्वैतता का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः यह कहा जा सकता है कि वह अच्छे या बुरे कर्मों के कारणों तथा फलों का साक्षीस्वरूप हृदयों में स्थित रहता है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि उदासीन का अर्थ यह नहीं है कि वह क्रियाहीन रहता है। वरन् इसका अर्थ यह है कि वह स्वयं प्रभावित नहीं होता है। उदाहरणार्थ, जब न्यायाधीश के समक्ष दो विरोधी पक्ष उपस्थित होते हैं, तो वह निष्पक्ष (उदासीन) बना रहता है किन्तु वह फिर भी प्रसंगानुसार न्याय करता है। कर्मों के प्रति पूर्णतया उदासीन या निष्पक्ष रहने के लिए हमें परम उदासीन पुरुष के चरणारविन्द की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

महाराज चित्रकेतु को यह उपदेश दिया गया कि पुत्र की मृत्यु जैसी दुखदायक घटना के उपस्थित होने पर उदासीन रह पाना असम्भव है। फिर भी चूँकि ईश्वर हर तरह से सन्तुलन करना जानते हैं, अतः सबसे सुगम मार्ग यही है कि उन्हीं पर आश्रित रहा जाये और उन्हीं की भक्ति की जाये। सभी परिस्थितियों में द्वैत-भाव से विचलित नहीं होना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* (२.४७) में कहा गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्माणि ॥

“तेरा अधिकार नियत कर्म करने में ही है, कर्मफल में नहीं। तू अपने को कर्मफल का हेतु भी न मान और कर्तव्य न करने में भी आसक्त न हो।” मनुष्य को चाहिए कि वह भक्ति का उत्तरदायित्व निभाये और कर्मफल के लिए भगवान् पर आश्रित रहे।

श्रीबादरायणिरुवाच

इत्युदीर्य गतो जीवो ज्ञातयस्तस्य ते तदा ।

विस्मिता मुमुचुः शोकं छित्त्वात्मस्नेहशृङ्खलाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उदीर्य—कहकर; गतः—चला गया; जीवः—जीवात्मा (जो महाराज चित्रकेतु के पुत्र रूप में प्रकट हुआ था); ज्ञातयः—सगे-सम्बन्धी; तस्य—उसके; ते—वे; तदा—उस समय; विस्मिताः—चकित; मुमुचुः—त्याग दिया; शोकम्—शोक; छित्त्वा—काट कर; आत्म-स्नेह—सम्बन्ध के कारण स्नेह की; शृङ्खलाम्—लोहे की जंजीर।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—जब महाराज चित्रकेतु के पुत्र रूप में वह बद्धजीव इस प्रकार बोलकर जब चला गया तो चित्रकेतु तथा मृत पुत्र के अन्य सम्बन्धी अत्यन्त विस्मित हुए। तब उन्होंने उसके साथ अपने सम्बन्ध से उत्पन्न स्नेह-बन्धन को काट दिया और शोक का परित्याग कर दिया।

निर्हृत्य ज्ञातयो ज्ञातेर्देहं कृत्वोचिताः क्रियाः ।

तत्यजुर्दुस्त्यजं स्नेहं शोकमोहभयार्तिदम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

निर्हृत्य—हटा कर; ज्ञातयः—राजा चित्रकेतु तथा अन्य सम्बन्धी; ज्ञातेः—पुत्र का; देहम्—शरीर; कृत्वा—सम्पन्न करके; उचिताः—समुचित; क्रियाः—क्रियाएँ; तत्यजुः—त्याग दिया; दुस्त्यजम्—दुस्त्यज, छोड़ने में कठिन; स्नेहम्—स्नेह; शोक—शोक; मोह—मोह; भय—डर; अर्ति—तथा दुख; दम्—देने वाला।

मृत बालक के शरीर का दाह-संस्कार तथा यथोचित अनुष्ठान सम्पन्न करने के बाद सम्बन्धियों ने उस स्नेह को भी त्याग दिया जिसके कारण मोह, शोक, भय तथा दुख की प्राप्ति होती है। निस्सन्देह, ऐसे स्नेह को त्याग पाना कठिन है, किन्तु उन्होंने सरलता से परित्याग कर दिया।

बालघ्न्यो व्रीडितास्तत्र बालहत्याहतप्रभाः ।

बालहत्याव्रतं चेरुर्ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम् ।

यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

बाल-घ्न्यः—बालक का वध करने वाली; व्रीडिताः—अत्यन्त लज्जित; तत्र—वहाँ; बाल-हत्या—बालक को मारने के कारण; हत—हीन; प्रभाः—समस्त शारीरिक द्युति; बाल-हत्या-व्रतम्—बालक की हत्या का प्रायश्चित्त; चेरुः—क्रिया; ब्राह्मणैः—पुरोहितों के द्वारा; यत्—जो; निरूपितम्—कथित; यमुनायाम्—यमुना नदी के तट पर; महा-राज—हे राजा परीक्षित; स्मरन्त्यः—स्मरण करते हुए; द्विज-भाषितम्—ब्राह्मण के द्वारा दिये गये आदेश।

रानी कृतद्युति की सौतें, जिन्होंने बालक को विष दिया था, अत्यन्त लज्जित हुईं और

उनके शरीर कान्तिविहीन हो गये। हे राजन्! शोक करते हुए उन्हें ऋषि अंगिरा के उपदेश स्मरण हो आए और उन्होंने पुत्र उत्पन्न करने की कामना का परित्याग कर दिया। ब्राह्मणों के निर्देशानुसार वे यमुना के तट पर गईं, वहाँ पर स्नान किया और अपने पापकर्मों के लिए प्रायश्चित्त किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *बाल-हत्या-हत-प्रभाः* पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। बालहत्या की प्रथा दीर्घकाल से मानव समाज में चली आती रही है, किन्तु उस समय यह बिरले ही की जाती थी। किन्तु आजकल, कलि काल में गर्भपात—भ्रूणहत्या—एक सामान्य बात हो गई है। यहाँ तक कि कभी कभी जन्म के बाद भी बच्चे की हत्या कर दी जाती है। यदि कोई स्त्री ऐसा जघन्य कार्य करती है, वह धीरे धीरे अपने शरीर की कान्ति खो देती है। (*बाल-हत्या-हत-प्रभाः*)। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि जिन स्त्रियों ने बच्चे को विष देने का घोर पापकर्म किया था, वे अत्यधिक लज्जित थीं और उन्हें ब्राह्मणों के आदेशानुसार बालहत्या के लिए प्रायश्चित्त करना पड़ा। यदि किसी स्त्री ने कभी ऐसा दुष्कृत्य किया हो तो उसे प्रायश्चित्त करना होता है, किन्तु आजकल कोई ऐसा नहीं करता। ऐसी दशा में, जो स्त्री बालहत्या की अपराधी होती है उसे इस जीवन में तथा अगले जन्म में दुख भोगना पड़ेगा। इस घटना को सुनकर सत्यनिष्ठ आत्माओं को बालहत्या से विरत होना चाहिए और अपने दुष्कर्मों के लिए गम्भीरतापूर्वक श्रीकृष्ण की भक्ति करनी चाहिए। यदि कोई निरपराध भाव से हरे कृष्ण महामंत्र का जप करता है, तो तुरन्त ही उसके सभी पापकर्मों का प्रायश्चित्त हो जाता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि ऐसे कर्म पुनः न करे, क्योंकि यह पाप है।

स इत्थं प्रतिबुद्धात्मा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः ।

गृहान्धकूपान्निष्क्रान्तः सरःपङ्कादिव द्विपः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; इत्थम्—इस प्रकार; प्रतिबुद्ध-आत्मा—आत्मज्ञान से भली-भाँति परिचित होकर; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; द्विज-उक्तिभिः—परम ब्राह्मणों (अंगिरा तथा नारद मुनि) के आदेश से; गृह-अन्ध-कूपत्—गृहस्थ जीवन के अन्धे कुएँ से; निष्क्रान्तः—बाहर निकल आया; सरः—झील या जलाशय के; पङ्कात्—कीचड़ से; इव—समान; द्विपः—हाथी के ।

परम ब्राह्मण अंगिरा तथा नारद के उपदेशों से जाग्रत होकर राजा चित्रकेतु आत्मज्ञान से भलीभाँति अवगत हो गया । जिस प्रकार हाथी कीचड़-युक्त जलाशय से बाहर निकल आता है, वैसे ही राजा चित्रकेतु गृहस्थ जीवन के अंधकूप से बाहर निकल आया ।

कालिन्ध्यां विधिवत्स्नात्वा कृतपुण्यजलक्रियः ।

मौनेन संयतप्राणो ब्रह्मपुत्राववन्दत ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कालिन्ध्याम्—यमुना नदी में; विधि-वत्—विधिपूर्वक; स्नात्वा—नहा कर; कृत—पूरा करते हुए; पुण्य—पावन; जल-क्रियः—तर्पण, जल देने की क्रिया; मौनेन—गम्भीरतापूर्वक; संयत-प्राणः—मन तथा इन्द्रियों को संयमित करके; ब्रह्म-पुत्रौ—ब्रह्माजी के दोनों पुत्रों (अंगिरा तथा नारद) की; अवन्दत—वन्दना की ।

राजा ने यमुना जल में स्नान किया और विधिपूर्वक अपने पितरों तथा देवताओं को जल का अर्घ्य दिया । फिर इन्द्रियों तथा मन को बड़े विकटता से संयमित करते हुए उन्होंने ब्रह्माजी के दोनों पुत्रों (अंगिरा तथा नारद) को नमस्कार किया ।

अथ तस्मै प्रपन्नाय भक्ताय प्रयतात्मने ।

भगवान्नारदः प्रीतो विद्यामेतामुवाच ह ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; तस्मै—उस; प्रपन्नाय—शरणागत; भक्ताय—भक्त को; प्रयत-आत्मने—आत्म-संयमी; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; नारदः—नारद; प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न; विद्याम्—दिव्य ज्ञान; एताम्—यह; उवाच—बोले; ह—निस्सन्देह ।

तत्पश्चात् आत्मसंयमी तथा शरणागत भक्त चित्रकेतु पर अत्यधिक प्रसन्न होकर सर्वाधिक शक्तिमान मुनि नारद ने निम्नानुस्तर दिव्य उपदेश दिया ।

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि ।

प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥ १८ ॥

नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये ।

आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार है; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—श्रीभगवान्; वासुदेवाय—वासुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण को; धीमहि—ध्यान करने दो; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न को; अनिरुद्धाय—अनिरुद्ध को; नमः—नमस्कार है; संकर्षणाय—भगवान् संकर्षण को; च—भी; नमः—नमस्कार है; विज्ञान-मात्राय—ज्ञान से पूर्ण रूप को; परम-आनन्द-मूर्तये—दिव्य आनन्द से पूर्ण; आत्म-आरामाय—आत्मनिर्भर (आत्माराम) भगवान् को; शान्ताय—तथा शान्त; निवृत्त-द्वैत-दृष्टये—जिसकी दृष्टि द्वैत से हट गई है, अथवा जो अद्वितीय है।

[नारद ने चित्रकेतु को निम्नलिखित मंत्र प्रदान किया]। ॐकार (प्रणव) नाम से सम्बोधित किये जाने वाले हे ईश्वर, हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। हे भगवान् वासुदेव! मैं आपका ध्यान करता हूँ। हे भगवान् प्रद्युम्न, भगवान् अनिरुद्ध तथा भगवान् संकर्षण! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। हे दिव्य शक्ति के आगार, हे परमानन्द! मैं आत्मनिर्भर (आत्माराम) तथा परम शान्त आपको सादर नमस्कार करता हूँ। हे परम सत्य, अद्वितीय! आप ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् रूप में जाने जाते हैं, अतः आप समस्त ज्ञान के आगार हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे प्रणवः सर्ववेदेषु—वैदिक मंत्रों में ॐ अक्षर हैं। दिव्य ज्ञान में भगवान् को प्रणव ॐकार के रूप में सम्बोधित किया जाता है, जो नाद रूप में ईश्वर का प्रतीकात्मक रूप है। ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। वासुदेव जो नारायण का अंश है अपने आपको प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण रूप में विस्तारित करते हैं। संकर्षण से नारायण का दूसरा विस्तार होता है और इस नारायण से वासुदेव, प्रद्युम्न, संकर्षण और अनिरुद्ध का विस्तार होता है। संकर्षण तीन पुरुषों के इस समूह के आदि कारण हैं। इनके नाम हैं कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु। क्षीरोदकशायी विष्णु प्रत्येक ब्रह्माण्ड में श्वेतद्वीप नामक विशेष लोक में अवस्थित हैं। इसकी पुष्टि ब्रह्म-संहिता में मिलती है—अण्डान्तरस्थ। अण्ड शब्द का अर्थ है यह ब्रह्माण्ड। इस ब्रह्माण्ड में श्वेतद्वीप नामक एक लोक है जहाँ क्षीरोदकशायी विष्णु अवस्थित हैं। उन्हीं से इस ब्रह्माण्ड के सारे अवतार उद्भूत हैं।

जैसाकि ब्रह्म-संहिता में पुष्टि की गई है श्रीभगवान् के ये समस्त रूप अद्वैत तथा अच्युत हैं—बद्धजीवों की भाँति वे नीचे नहीं गिरते। सामान्य जीवात्मा माया के चंगुल में गिर सकता है, किन्तु

परमात्मा अपने विभिन्न अवतारों तथा रूपों में अच्युत हैं। अतः उनका शरीर बद्धजीव के शरीर से भिन्न होता है।

मात्रा शब्द की व्याख्या मेदिनीकोश में इस प्रकार दी हुई है—*मात्रा कर्ण-विभूषायां वित्ते माने परिच्छदे*—अर्थात् मात्रा शब्द का अर्थ विभिन्न संदर्भों में कान का अलंकरण, सम्पत्ति, आदर तथा आवरण का स्वामित्व है। *भगवद्गीता* (२.१४) में कहा गया है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

“हे कुन्तीपुत्र! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से होने वाली सुख-दुख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के आने-जाने के समान ही अनित्य तथा क्षणभंगुर हैं। वे इन्द्रियों की अनुभूति से होती है इसलिए हे अर्जुन! विचलित हुए बिना उसको सहने का अभ्यास कर।” इस बद्ध जीवन में, शरीर वस्त्र की भाँति काम में लाया जाता है। जिस प्रकार हमें गर्मी तथा सर्दी में भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार हम बद्धजीव अपनी कामनाओं के ही अनुरूप अपना शरीर बदलते रहते हैं। किन्तु भगवान् का शरीर ज्ञान से पूर्ण होने के कारण इसे किसी प्रकार के आच्छादन (वस्त्र) की आवश्यकता नहीं होती। यह विचार कि श्रीकृष्ण का शरीर भी हमारी ही तरह है—अर्थात् उनके शरीर तथा आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, हमारी नासमझी है। श्रीकृष्ण में ऐसा अन्तर नहीं होता, क्योंकि उनका शरीर ज्ञानमय है। हमें तो भौतिक शरीर इसलिए प्राप्त होता है क्योंकि हममें ज्ञान का अभाव रहता है, किन्तु वासुदेव श्रीकृष्ण ज्ञान से पूरित हैं इसलिए उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। श्रीकृष्ण को आज से ४ करोड़ वर्ष पूर्व सूर्यदेव से कहे गये वचन याद हैं, किन्तु सामान्य मनुष्य को एक दिन पहले कही गयी बातें याद नहीं रहती हैं। हमारे शरीर तथा श्रीकृष्ण के शरीर में यही अन्तर है। इसलिए ईश्वर को *विज्ञान-मात्राय परमानन्दमूर्तये* कहा गया है।

चूँकि भगवान् का शरीर ज्ञानमय है, अतः वे सदैव दिव्य आनन्द का अनुभव करते रहते हैं।

दरअसल, उनका स्वरूप ही परमानन्द है। इसकी पुष्टि वेदान्त सूत्र में हुई है। *आनन्दमयोऽध्यासात्*। ईश्वर सहज ही आनन्दमय है। जब भी हम श्रीकृष्ण का दर्शन करते हैं, वे सभी परिस्थितियों में आनन्दमय रहते हैं। उन्हें कोई खिन्न नहीं कर सकता। *आत्मारामाय*—उन्हें बाहरी सुख ढूँढने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे आत्म-निर्भर हैं। *शान्ताय*—उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। जिसे अन्य साधनों से आनन्द खोजना होता है, वह सदैव चिन्ताग्रस्त रहता है। कर्मी, ज्ञानी तथा योगी चिन्ता से पूर्ण रहते हैं, क्योंकि उन्हें कुछ न कुछ चाहिए, किन्तु भक्त को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो परम आनन्दमय भगवान् की सेवा करके ही संतुष्ट रहता है।

निवृत्त-द्वैत-दृष्टये—हमारे बद्ध जीवन में हमारे शरीर में विभिन्न अंग होते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के विभिन्न अंगों का आभास तो होता है पर उनके शरीर का कोई भी अंग दूसरे अंग से भिन्न नहीं होता। श्रीकृष्ण अपने नेत्रों से देख सकते हैं और नेत्रों के बिना भी देख सकते हैं। अतः *श्वेताश्वतर उपनिषद्* का वचन है—*पश्यत्यचक्षुः*। वे अपने हाथों तथा पाँवों से देख सकते हैं। उन्हें किसी विशेष कार्य को करने के लिए शरीर का कोई विशेष अंग नहीं चाहिए *अंगानि यस्य सकलेन्द्रिय वृत्तिमन्ति*—वे अपने शरीर के किसी भी अंग से कोई भी इच्छित कार्य कर सकते हैं इसलिए वे सर्वशक्तिमान कहलाते हैं।

आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः ।
हृषीकेशाय महते नमस्तेऽनन्तमूर्तये ॥ २० ॥

शब्दार्थ

आत्म-आनन्द—आपके अपने आनन्द की; अनुभूत्या—अनुभूति से; एव—निश्चय ही; न्यस्त—परित्यक्त; शक्ति-ऊर्मये—भौतिक शक्ति (माया) की लहरें; नमः—नमस्कार; हृषीकेशाय—इन्द्रियों के परम नियामक को; महते—परमात्मा को; नमः—नमस्कार; ते—तुमको; अनन्त—असीम; मूर्तये—जिनका विस्तार (प्रकाश)।

अपने व्यक्तिगत आनन्द का अनुभव करते हुए आप सदैव भौतिक प्रकृति की लहरों के परे हैं। अतः हे ईश्वर! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। आप इन्द्रियों के परम नियामक (प्रेरक) हैं और आपके रूप के प्रकाश (विस्तार) अनन्त हैं। आप परम महान् हैं, अतः मैं

आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर बताया गया है। बद्धजीव तथा ईश्वर के रूपों में अन्तर है, क्योंकि ईश्वर सदा आनन्दमय है, किन्तु जीव सदैव भौतिक संसार के ताप-त्रय के अधीन रहता है। परमेश्वर तो सच्चिदानन्द विग्रह हैं। वे अपने आप से आनन्द प्राप्त करते हैं। उनका शरीर दिव्य सत्त्वमय है, किन्तु बद्धजीव को भौतिक शरीर के कारण अनेक शारीरिक तथा मानसिक व्याधियाँ सताती रहती हैं। बद्धजीव सदैव आसक्ति तथा विरक्ति से पीड़ित रहता है, जबकि ईश्वर इस द्वैतता से सदा मुक्त रहता है। ईश्वर समस्त इन्द्रियों का परम स्वामी है, जबकि बद्धजीव इन्द्रियों द्वारा संचालित होता है। ईश्वर विराट है, जबकि जीवात्मा सूक्ष्मतम है। जीवात्मा को माया की लहरें प्रभावित करती रहती हैं, किन्तु परमेश्वर समस्त कर्मों तथा उनके फलों से परे हैं। परमेश्वर के अनेकानेक विस्तार हैं (*अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्त-रूपम्*) किन्तु बद्ध जीवात्मा का केवल एक रूप होता है। इतिहास बताता है कि कभी-कभी जीवात्मा योगशक्ति से आठ रूपों में विस्तार कर सकता है, किन्तु ईश्वर के शारिरिक विस्तार अनन्त हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की देहों का कोई वार-पार नहीं है।

वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह ।

अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वचसि—जब शब्द (वाणी); उपरते—नहीं रहते; अप्राप्य—लक्ष्य न प्राप्त करके; यः—जो; एकः—एक; मनसा—मन के; सह—साथ; अनाम—बिना नाम का; रूपः—अथवा भौतिक रूप; चित्-मात्रः—पूर्णतया आध्यात्मिक; सः—वह; अव्यात्—रक्षा करे; नः—हमारी; सत्-असत्-परः—जो समस्त कारणों का कारण (परम कारण) है।

बद्धजीव की वाणी तथा मन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तक नहीं पहुँच पाते क्योंकि वे नितान्त आत्मस्वरूप, स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की अवधारणाओं से परे हैं, अतः उन पर भौतिक नाम तथा रूप लागू नहीं होते। निर्गुण ब्रह्म उनके अन्य रूपों में से है। वे अपने आनन्द-स्वरूप से हमारी रक्षा करें।

तात्पर्य : इस श्लोक में निराकार ब्रह्म, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की ज्योति है, वर्णन हुआ है।

यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते ।

मृण्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह (दृश्य जगत); यतः—जिससे; च—भी; इदम्—यह (दृश्य जगत); तिष्ठति—स्थित है; अप्येति—विलीन होता है; जायते—उत्पन्न होता है; मृत्-मयेषु—मिट्टी से बनी वस्तुओं में; इव—के जैसा; मृत्-जातिः—मिट्टी से जन्मा; तस्मै—उस (ईश्वर); ते—तुमको; ब्रह्मणे—परम कारण; नमः—नमस्कार ।

जिस प्रकार मिट्टी के पात्र बनाये जाने के बाद पृथ्वी पर स्थित रहते हैं और तोड़ दिये जाने पर पुनः मिट्टी बन जाते हैं, उसी प्रकार से यह दृश्य जगत परम ब्रह्म द्वारा उत्पन्न किया जाता है, उन्हीं में स्थित रहता है और उन्हीं में विलीन हो जाता है। अतः ब्रह्म के कारण स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम को हमारा सादर नमस्कार है।

तात्पर्य : परमेश्वर इस दृश्य जगत के कारण हैं, वे ही सृष्टि के बाद इसके पालन करने वाले तथा प्रलय के बाद प्रत्येक वस्तु के आगार हैं।

यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः ।

अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसको; न—नहीं; स्पृशन्ति—छू सकता है; न—नहीं; विदुः—जान सकता है; मनः—मन; बुद्धि—बुद्धि; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; असवः—प्राण; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; च—भी; विततम्—प्रसारित; व्योम-वत्—आकाश के समान; तत्—उसको; नतः—प्रणत; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से प्रादुर्भूत होकर परम ब्रह्म व्योम की तरह विस्तृत हो जाता है। यद्यपि इसको कोई भौतिक पदार्थ स्पर्श नहीं कर सकता, किन्तु यह भीतर तथा बाहर विद्यमान है। तो भी मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा प्राणशक्ति न तो उसका स्पर्श कर सकती हैं, न उसे जान सकती हैं। मैं उनको सादर नमस्कार करता हूँ।

देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी

यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु ।

नैवान्यदा लौहमिवाप्रतप्तं

स्थानेषु तद्द्रष्टृपदेशमेति ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रिय; प्राण—प्राणशक्ति; मनः—मन; धियः—तथा बुद्धि; अमी—ये सब; यत्-अंश-विद्धाः—ब्रह्म या परमेश्वर की किरणों से प्रभावित; प्रचरन्ति—फैलती हैं; कर्मसु—विभिन्न गतिविधियों में; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अन्यदा—अन्य अवसरों पर; लौहम्—लोहा; इव—के समान; अप्रतप्तम्—(अग्नि से) अतप्त; स्थानेषु—उन स्थितियों में; तत्—वह; द्रष्टृ-अपदेशम्—किसी दृष्ट वस्तु का नाम; एति—प्राप्त करता है।

जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क से तप्त हुआ लोहा भस्म कर देने में समर्थ है उसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, प्राणशक्ति, मन तथा बुद्धि पदार्थ के पिण्ड मात्र होते हुए भी श्रीभगवान् द्वारा चेतना के कणमात्र से पूरित होने पर अपने-अपने कार्य करने लगते हैं। जिस प्रकार अग्नि में तप्त हुए बिना लोहा कुछ भी जला पाने में अशक्त रहता है उसी प्रकार ये शारीरिक इन्द्रियाँ परमेश्वर की कृपादृष्टि के बिना कार्य नहीं कर सकतीं।

तात्पर्य : तपाकर लाल किया गया लोहा जला सकता है, किन्तु वह मूल अग्नि को भस्म नहीं कर सकता। अतः ब्रह्म के सूक्ष्म कण की चेतना परब्रह्म की शक्ति पर पूर्णतया आश्रित है। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—बद्धजीव मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति प्राप्त करता है। कार्य करने की शक्ति परमेश्वर से प्राप्त होती है और जब भगवान् शक्ति वापस ले लेते हैं, तो बद्धजीव की इन्द्रियों में कार्य करने की शक्ति नहीं रह जाती। शरीर में पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन के अतिरिक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं, किन्तु वास्तव में ये पदार्थ के खण्डों के सदृश हैं। उदाहरणस्वरूप, मस्तिष्क पदार्थ के अतिरिक्त कुछ नहीं है, किन्तु जब वही श्रीभगवान् की शक्ति से विद्युन्मय हो जाता है, तो कार्य कर सकता है, जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में आकर लाल होने पर लोहा जला सकने में समर्थ है। हमारे जगते रहने या स्वप्न देखते समय भी मस्तिष्क कार्य कर सकता है, किन्तु हमारे संज्ञाशून्य होने पर यह निष्क्रिय रहता है या प्रगाढ़ निद्रा के समय यह निष्क्रिय रहता है। चूँकि मस्तिष्क पदार्थ का एक पिण्ड है, इसमें कार्य

करने की स्वतंत्र सक्षमता नहीं होती है वह तभी कार्य कर सकता है जब उस पर ब्रह्म या परब्रह्म स्वरूप श्रीभगवान् की कृपादृष्टि होती है। यही वह विधि है, जिससे यह समझा जा सकता है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण सर्वत्र व्याप्त हैं। जैसे सूर्य मण्डल में सूर्यदेव की उपस्थिति के कारण धूप दिखती है। परमेश्वर को हृषीकेश कहा जाता है। वे ही इन्द्रियों के एकमात्र संचालक हैं। जब तक उनकी शक्ति प्राप्त नहीं होती, हमारी इन्द्रियाँ कार्य नहीं कर सकतीं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर ही एकमात्र द्रष्टा, कर्ता, श्रोता तथा नियन्ता है।

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये
सकलसात्वतपरिवृढनिकर करकमलकुड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परमपरमेष्ठिन्नमस्ते ॥
२५ ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे भगवन्; नमः—नमस्कार; भगवते—छः ऐश्वर्यों से पूर्ण ब्रह्म आपको; महा-पुरुषाय—परम भोक्ता; महा-अनुभावाय—परम सिद्ध आत्मा या परमात्मा; महा-विभूति-पतये—समस्त योग-शक्तियों के स्वामी; सकल-सात्वत-परिवृढ—समस्त श्रेष्ठ भक्तों का; निकर—समूह; कर-कमल—कमल रूपी हाथों का; कुड्मल—कलियों का; उपलालित—सेवित; चरण-अरविन्द-युगल—जिनके दोनों चरणकमल; परम—सर्वोच्च; परमे-ष्ठिन्—वैकुण्ठलोक में स्थित; नमः ते—आपको नमस्कार है।

हे वैकुण्ठलोक में आसीन दिव्य ईश्वर! आपके चरणकमल सदैव श्रेष्ठ-भक्तों के समुदाय के करकमलों के द्वारा चाँपे जाते हैं। आप छः ऐश्वर्यों से पूर्ण श्रीभगवान् हैं। आप पुरुषसूक्त की स्तुतियों में वर्णित परम पुरुष हैं। आप परम पूर्ण, समस्त योग-शक्तियों के स्वरूपसिद्ध स्वामी हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : कहा जाता है परम सत्य तो एक है, किन्तु वह ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् जैसे विविध रूपों में प्रकट होता रहता है। पिछले श्लोकों में परम सत्य के ब्रह्म तथा परमात्मा रूपों का वर्णन हो चुका है। अब यह परम पुरुष के प्रति भक्तियोग में की गई स्तुति है। इस प्रसंग में सकल-सात्वतपरिवृढ शब्दों का प्रयोग हुआ है। सात्वत शब्द का अर्थ 'भक्तजन' है और सकल का अर्थ है "सब मिलकर।" भक्तों के भी चरणकमल होते हैं और वे अपने कर-कमलों से भगवान् के चरणकमलों की सेवा करते हैं। कभी-कभी भक्त भगवान् के चरणकमलों की सेवा में

सक्षम नहीं होते इसलिए भगवान् को परम-परमेष्ठिन् कहा गया है। परम पुरुष होते हुए भी वे भक्तों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं। भगवान् की सेवा करने के लिए कोई भी योग्य (सक्षम) नहीं है, किन्तु फिर भी यदि भक्त उसके योग्य नहीं होता तो दयालु भगवान् उसके इस विनीत प्रयत्न को स्वीकार कर लेते हैं।

श्रीशुक उवाच

भक्तायैतां प्रपन्नाय विद्यामादिश्य नारदः ।

ययावद्गिरसा साकं धाम स्वायम्भुवं प्रभो ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भक्ताय—भक्त को; एताम्—यह; प्रपन्नाय—शरणागत को; विद्याम्—दिव्य ज्ञान; आदिश्य—उपदेश देकर; नारदः—परम साधु नारद; ययौ—चले गये; अङ्गिरसा—परम सन्त अङ्गिरा; साकम्—के साथ; धाम—सर्वोच्च लोक के लिए; स्वायम्भुवम्—ब्रह्माजी के; प्रभो—हे राजन्।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—चित्रकेतु के पूर्णतः शरणागत होने पर गुरु हो जाने के कारण नारद ने इस स्तुति के द्वारा उसे पूरा पूरा उपदेश दिया। हे राजा परीक्षित! तत्पश्चात् अङ्गिरा ऋषि सहित नारद मुनि ब्रह्मलोक नामक सर्वोच्च लोक के लिए चल पड़े।

तात्पर्य : जब अङ्गिरा राजा चित्रकेतु को सर्वप्रथम देखने आये थे तो अपने साथ नारद को नहीं लाये थे। किन्तु चित्रकेतु के पुत्र की मृत्यु के पश्चात् वे नारद को अपने साथ इसलिए ले आये जिससे वे चित्रकेतु को भक्तियोग के सम्बन्ध में उपदेश दे सकें। अन्तर यह था कि प्रारम्भ में चित्रकेतु में वैराग्य वृत्ति नहीं थी, किन्तु पुत्र की मृत्यु के पश्चात् अब वह शोक से अत्यन्त संतप्त था, तो जगत तथा भौतिक सम्पत्ति की असारता के विषय में उपदेश दिये जाने पर उसमें वैराग्य जागृत हुआ। यही अवस्था है, जिसमें भक्तियोग का उपदेश दिया जा सकता है। जब तक मनुष्य भौतिक सुखभोग में आसक्त रहता है तब तक भक्तियोग समझ में नहीं आता। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (२.४४) में की गई है—

भोगेश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

“जो मनुष्य विषयभोग तथा लौकिक ऐश्वर्य में गहरी आसक्ति के कारण इस प्रकार मोहित हो रहे हैं उनके चित्त में भगवद्भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं हो पाता।” जब तक मनुष्य विषयभोग के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है तब तक उसका मन भक्ति जैसे विषय पर केन्द्रित नहीं हो पाता।

इस समय पश्चिमी देशों में कृष्णभावनामृत आन्दोलन सफलतापूर्वक इसलिए अग्रसर हो रहा है क्योंकि पश्चिम के युवक वैराग्य की अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। वे समस्त भौतिक सुख से एक प्रकार से ऊब चुके हैं, अतः समूचे पश्चिमी देशों में हिप्पियों की जनसंख्या हो गई है। अतः यदि ऐसे युवा व्यक्तियों को भक्तियोग अर्थात् कृष्णभावनामृत का उपदेश दिया जाता है, तो वह अवश्य ही प्रभावशाली होगा।

ज्योंही चित्रकेतु को वैराग्य विद्या का दर्शन समझ में आ गया त्योंही वह भक्तियोग की प्रक्रिया को समझ सका। इस सम्बन्ध में श्रील सार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा है—*वैराग्य-विद्या निजभक्तियोग*। वैराग्य विद्या तथा भक्तियोग समान्तर रेखाएँ हैं। एक को समझने के लिए दूसरा अनिवार्य है। यह भी कहा गया है—*भक्तिः परदेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च (भागवत ११.२.४२)*। कृष्णभावनामृत अथवा भक्ति में उन्नति का लक्षण है भौतिक सुख से बढ़ती हुई विरक्ति। नारद मुनि भक्ति के जनक हैं, इसलिए चित्रकेतु पर अहैतुकी कृपा करने के कारण उसे उपदेश देने के लिए अंगिरा अपने साथ नारद मुनि को लेते आये। उनके इन उपदेशों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। जो कोई नारद मुनि के चरण-चिह्नों का अनुसरण करता है, वह निश्चय ही शुद्ध भक्त है।

चित्रकेतुस्तु तां विद्यां यथा नारदभाषिताम् ।

धारयामास सप्ताहमभक्षः सुसमाहितः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु ने; तु—निस्सन्देह; ताम्—उस; विद्याम्—दिव्य ज्ञान को; यथा—जिस प्रकार; नारद-भाषिताम्—परम साधु नारद द्वारा उपदेश दिया गया; धारयाम् आस—जाप किया; सप्त-अहम्—लगातार एक सप्ताह तक; अप्-भक्षः—केवल जल पीकर; सु-समाहितः—अत्यन्त ध्यानपूर्वक।

केवल जल पीकर उपवास करते हुए राजा चित्रकेतु ने नारद मुनि द्वारा दिये गये मंत्र का

एक सप्ताह तक अत्यन्त ध्यानपूर्वक लगातार जप किया ।

ततः स सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया ।

विद्याधराधिपत्यं च लेभेऽप्रतिहतं नृप ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ततः—इससे; सः—वह; सप्त-रात्र-अन्ते—सात रातों के बाद; विद्यया—स्तुतियों से; धार्यमाणया—अत्यन्त सावधानी से अभ्यास करने से; विद्याधर-अधिपत्यम्—विद्याधरों का स्वामित्व (बीच के फल के रूप में); च—भी; लेभे—प्राप्त किया; अप्रतिहतम्—गुरु द्वारा दिये गये उपदेशों से विचलित न होते हुए; नृप—हे राजा परीक्षित ।

हे राजा परीक्षित! अपने गुरु से प्राप्त मंत्र को केवल सात दिनों तक अभ्यास करने पर राजा चित्रकेतु को अन्तिम फल के रूप में आत्मज्ञान हो जाने से विद्याधर लोक का राज्य प्राप्त हुआ ।

तात्पर्य : यदि दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद कोई भक्त अपने गुरु के उपदेशों का कठोरता से पालन करता है, तो उसे विद्याधर-अधिपत्यम् का भौतिक ऐश्वर्य एवं अन्य पद प्राप्त होते हैं । भक्त को सफलता प्राप्त करने के लिए योग, कर्म या ज्ञान की साधना नहीं करनी होती । अकेले भगवद्भक्ति से उसे समस्त भौतिक शक्ति प्राप्त हो जाती है । किन्तु शुद्ध भक्त कभी भी भौतिक शक्ति के प्रति आसक्त नहीं होता, यद्यपि वह उसे बिना प्रयास के सुगमता से ही प्राप्त होती है । चित्रकेतु को नारद के उपदेशों के अनुसार भक्ति में तत्परता से अग्रसर होने से यह अतिरिक्त लाभ हो सका ।

ततः कतिपयाहोभिर्विद्ययेद्धमनोगतिः ।

जगाम देवदेवस्य शेषस्य चरणान्तिकम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तदनन्तर; कतिपय-अहोभिः—कुछ ही दिनों के भीतर; विद्यया—आध्यात्मिक मंत्र से; इद्ध-मनः-गतिः—मन के पथ के प्रकाशित होने से; जगाम—गया; देव-देवस्य—अन्य देवताओं के स्वामी; शेषस्य—भगवान् शेष के; चरण-अन्तिकम्—चरणकमल की शरण में ।

तदनन्तर कुछ ही दिनों में चित्रकेतु द्वारा जपे गए मंत्र के प्रभाव से उस का मन आत्म-ज्ञान से अत्यधिक प्रकाशित हो गया और उन्होंने अनन्त देव के चरणारविन्द की शरण प्राप्त

की।

तात्पर्य : भक्त की चरम सिद्धि वैकुण्ठ के किसी एक लोक में ईश्वर के चरणारविन्द में शरण प्राप्त करना है। भक्ति के कठोर अनुष्ठान से यदि भक्त चाहता है, तो उसे सभी भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं, अन्यथा न तो भक्त को ऐश्वर्य की इच्छा रहती है और न परमेश्वर ही उसे प्रदान करते हैं। ईश्वर की भक्ति में संलग्न भक्त का वास्तविक ऐश्वर्य, भौतिक न होकर आध्यात्मिक होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई भक्त एक सुन्दर तथा मूल्यवान् मन्दिर के निर्माण में धन व्यय करता है, तो यह निर्माण-कार्य भौतिक न होकर आध्यात्मिक होता है (*निर्बन्धः कृष्ण-सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते*)। भक्त का मन कभी भी मन्दिर के भौतिक पक्ष की ओर नहीं जाता। मन्दिर के निर्माण में लगाने वाली ईंटें, पत्थर तथा लकड़ी सभी श्रीविग्रह (मूर्ति) के ही समान आध्यात्मिक हैं, जो पत्थर से निर्मित होने पर भी पत्थर न होकर स्वयं श्रीभगवान् होता है। ज्यों-ज्यों भक्त आध्यात्मिक-चेतना की ओर आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसे भक्ति के तत्त्व और अधिक स्पष्ट होते जाते हैं। भक्ति में कुछ भी भौतिक नहीं है; प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक है। फलतः भक्त को तथाकथित भौतिक ऐश्वर्य इसलिए प्रदान किया जाता है कि वह आत्मिक उन्नति करे। यह ऐश्वर्य भक्त को वैकुण्ठ धाम के निकट पहुँचने के लिए सहायता के रूप में होता है। इस प्रकार महाराज चित्रकेतु विद्याधर पति के रूप में भौतिक ऐश्वर्य में ही बने रहे। भक्ति साधना के द्वारा वे कुछ ही दिनों में सिद्ध होकर भगवान् के धाम जाकर भगवान् शेष अथवा अनन्त के चरणकमल की शरण को प्राप्त हुए।

एक कर्मी का भौतिक ऐश्वर्य तथा भक्त का ऐश्वर्य एकसमान नहीं होते, इस पर श्रील मध्वाचार्य की टीका इस प्रकार है—

अन्यान्तर्यामिणं विष्णुं उपास्यान्यसमीपगः ॥

भवेद् योग्यतया तस्य पदं वा प्राप्नुयान् नरः ॥

भगवान् विष्णु की आराधना से भक्त को मनवांछित फल प्राप्त हो सकता है, किन्तु शुद्ध भक्त

उनसे कभी लाभ की याचना नहीं करता। उल्टे वह निष्काम भाव से भगवान् विष्णु की सेवा करता है, जिससे अन्ततः उसे वैकुण्ठ धाम भेज दिया जाता है। इस सन्दर्भ में श्रील वीरराघव आचार्य की टीका है—*यथेष्ट-गतिरित्य अर्थः*—विष्णु की आराधना से भक्त को मनवांछित प्राप्ति होती है। महाराज चित्रकेतु भगवान् के धाम को ही वापस जाना चाहते थे, अतः उन्हें इसमें सफलता प्राप्त हुई।

मृणालगौरं शितिवाससं स्फुरत्-
किरीटकेयूरकटित्रकङ्कणम् ।
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनं वृतं
ददर्श सिद्धेश्वरमण्डलैः प्रभुम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मृणाल-गौरम्—कमल के रेशों के समान श्वेत; शिति-वाससम्—नीले रेशम के वस्त्र धारण किये; स्फुरत्—चमकते हुए; किरीट—मुकुट; केयूर—बाजूबंद, बिजावट; कटित्र—करधनी; कङ्कणम्—जिनके कंगन; प्रसन्न-वक्त्र—स्मित मुख; अरुण-लोचनम्—लाल-लाल नेत्र वाला; वृतम्—घिरा हुआ; ददर्श—देखा; सिद्ध-ईश्वर-मण्डलैः—परम सिद्ध भक्तों के द्वारा; प्रभुम्—श्रीभगवान् को।

भगवान् शेष की शरण में पहुँचकर चित्रकेतु ने देखा कि वे कमल-पुष्प के श्वेत रेशों के समान ही श्वेत वर्ण के थे। उन्होंने नीला वस्त्र धारण कर रखा था और चमचमाते मुकुट, बाजूबंद, करधनी तथा कंगन से आभूषित थे। उनका मुख मन्द हँसी से युक्त था। उनके नेत्र रक्तिम थे। वे सनत्कुमार जैसे मुक्त पुरुषों से घिरे हुए थे।

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः
स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः ।
प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
प्रहृष्टरोमानमदादिपुरुषम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तद्-दर्शन—श्रीभगवान् के दर्शन से; ध्वस्त—विनष्ट; समस्त-किल्बिषः—समस्त पाप; स्वस्थ—स्वस्थ; अमल—तथा शुद्ध; अन्तःकरणः—जिसके हृदय का अभ्यन्तर; अभ्ययात्—आमने-सामने पहुँच कर; मुनिः—राजा, जो मानसिक तुष्टि से शान्त था; प्रवृद्ध-भक्त्या—भक्ति बढ़ने की प्रवृत्ति के कारण; प्रणय-अश्रु-लोचनः—प्रेम के कारण अश्रुपूरित नेत्र; प्रहृष्ट-रोम—हर्ष के कारण रोमांचित; अनमत्—नमस्कार किया; आदि-पुरुषम्—आदि पुरुष को।

परमेश्वर का दर्शन पाते ही महाराज चित्रकेतु के समस्त भौतिक कल्मष धुल गये और वे पूर्णतः पवित्र हो जाने के कारण अपनी मूल कृष्णचेतना (भक्ति) में स्थित हो गये। वे पूर्णतः पवित्र हो जाने के कारण शान्त एवं गम्भीर हो गये, ईश्वर के प्रेमवश उनकी आँखों से अश्रु झरने लगे और अन्त में उन्हें रोमांच हो आया। उन्होंने अत्यन्त भक्ति तथा प्रेम-पूर्वक आदि भगवान् को सादर नमस्कार किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में तद्-दर्शन-ध्वस्त-समस्त-किल्बिषः पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई मन्दिर में भगवान् का नियमित दर्शन करता है, तो मात्र मन्दिर तथा मूर्ति को देखते रहने से वह समस्त भौतिक कामनाओं के संक्रामक रोग से मुक्त हो जाता है। जब मनुष्य समस्त पापकर्मों के फल से मुक्त हो जाता है, तो वह पवित्र बन जाता है। तभी स्वस्थचित्त तथा पूर्ण स्वच्छ होकर वह कृष्णभावनामृत (भक्ति) में अग्रसर होता है।

स उत्तमश्लोकपदाब्जविष्टरं

प्रेमाश्रुलेशैरुपमेहयन्मुहुः ।

प्रेमोपरुद्धाखिलवर्णनिर्गमो

नैवाशकत्तं प्रसमीडितुं चिरम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; उत्तमश्लोक—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; पद-अब्ज—चरणकमल का; विष्टरम्—आसन (चौकी); प्रेम-अश्रु—शुद्ध प्रेम के आँसुओं के; लेशैः—बूँदों से; उपमेहयन्—सिक्त करके; मुहुः—पुनः पुनः; प्रेम-उपरुद्ध—प्रेम से गला रुँधकर; अखिल—समस्त; वर्ण—अक्षरों का; निर्गमः—बाहर निकलना; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अशकत्—समर्थ; तम्—उसको; प्रसमीडितुम्—प्रार्थना करने में; चिरम्—दीर्घ काल तक।

चित्रकेतु के प्रेमाश्रुओं से भगवान् के चरणकमल का आसन (चौकी) बार बार भीग जाता था। आल्हाद के कारण वाणी अवरुद्ध हो जाने से वे लम्बे अन्तराल तक भगवान् की उचित स्तुति में एक भी शब्द का उच्चारण न कर पाये।

तात्पर्य : सभी अक्षर तथा अक्षरों से निर्मित शब्द भगवान् की स्तुति करने के निमित्त होते हैं। महाराज चित्रकेतु को अक्षरों से सुन्दर श्लोक तैयार करके भगवान् की स्तुति करने का सुअवसर

प्राप्त हुआ था, किन्तु आल्हाद के कारण वे बहुत समय तक उन शब्दों को स्तुति करने के लिए जोड़ ही नहीं पाये। श्रीमद्भागवत (१.५.२२) में कहा गया है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणामुवर्णनम् ॥

यदि किसी के पास वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनैतिक, आर्थिक अथवा कोई अन्य योग्यता है और ज्ञान-सिद्धि चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह श्रेष्ठ कविता बनाकर भगवान् की स्तुति करे अथवा अपनी प्रतिभा को ईश्वर की सेवा में लगाए। चित्रकेतु ऐसा ही करना चाह रहे थे, किन्तु प्रेमाभिभूत होने के कारण वे ऐसा करने में असमर्थ थे। अतः स्तुति करने के पूर्व उन्हें देर तक रुके रहना पड़ा।

ततः समाधाय मनो मनीषया
बभाष एतत्प्रतिलब्धवागसौ ।
नियम्य सर्वेन्द्रियबाह्यवर्तनं
जगद्गुरुं सात्वतशास्त्रविग्रहम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; समाधाय—संयमित करके; मनः—मन को; मनीषया—अपनी बुद्धि से; बभाष—बोला; एतत्—यह; प्रतिलब्ध—पुनः प्राप्त करके; वाक्—वाणी; असौ—वह (राजा चित्रकेतु); नियम्य—वश में करके; सर्वेन्द्रिय—समस्त इन्द्रियों को; बाह्य—बाहरी; वर्तनम्—घूमने को; जगद्गुरुम्—जो सबों का गुरु; सात्वत—भक्ति का; शास्त्र—शास्त्रों का; विग्रहम्—मूर्त रूप।

तत्पश्चात् अपनी बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके और अपनी इन्द्रियों को बाह्य विषयों से समेट कर वे अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द ढूँढ सके। इस प्रकार वे उन भगवान् की स्तुति करने लगे जो साक्षात् शास्त्रों (ब्रह्म-संहिता तथा नारद-पंचरात्र जैसी सात्वत संहिताओं) के स्वरूप हैं एवं सबों के गुरु हैं। उन्होंने निम्नवत् स्तुति

की।

तात्पर्य : सांसारिक शब्दों से भगवान् की स्तुति नहीं की जा सकती। मनुष्य को चाहिए कि वह पहले मन तथा इन्द्रियों को संयमित करके आध्यात्मिक उन्नति करे। तभी भगवान् की स्तुति के उपयुक्त शब्द मिल सकेंगे। श्रील सनातन गोस्वामी *पद्मपुराण* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हुए कोई ऐसा गीत गाने के लिए मना करते हैं, जो किसी अधिकारी भक्त द्वारा न गाया गया हो—

अवैष्णव मुखोद्गीर्णं पूतं हरिकथामृतम्।

श्रवणं नैव कर्तव्यं सर्पोच्छिष्टं यथा पयः ॥

किसी व्यक्ति के वे शब्द या गीत जो वैष्णव-आचार में मान्य नहीं हैं अथवा हरे कृष्ण महामंत्र के जप के नियमों के अनुसार नहीं हैं उन्हें शुद्ध भक्तों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। *सात्वत-शास्त्र विग्रहं* शब्द यह सूचित करते हैं कि भगवान् के सच्चिदानन्द शरीर को कभी भी माया से निर्मित नहीं माना जा सकता। भक्त कभी भी ईश्वर के कल्पित रूप की स्तुति नहीं करते। भगवान् के स्वरूप के अस्तित्व की पुष्टि समस्त वैदिक ग्रंथों के द्वारा होती है।

चित्रकेतुरुवाच

अजित जितः सममतिभिः

साधुभिर्भवान्जितात्मभिर्भवता ।

विजितास्तेऽपि च भजता-

मकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

चित्रकेतुः उवाच—राजा चित्रकेतु ने कहा; अजित—हे दुर्जेय भगवान्; जितः—जीता गया; सम-मतिभिः—मन को वश में करने वाले पुरुषों द्वारा; साधुभिः—भक्तों के द्वारा; भवान्—आप; जित-आत्मभिः—जिन्होंने इन्द्रियों को पूरी तरह जीत लिया है; भवता—आपके द्वारा; विजिताः—जीता जाकर; ते—वे; अपि—भी; च—तथा; भजताम्—आपकी भक्ति में लगे रहने वालों को; अकाम-आत्मनाम्—भौतिक लाभ की कामना से रहित, निष्काम; यः—जो; आत्म-दः—अपने आप को देने वाले; अति-करुणः—अत्यन्त दयालु।

चित्रकेतु ने कहा—हे अजेय भगवान्! यद्यपि आप को कोई जीत नहीं सकता, किन्तु उन भक्तों के द्वारा अवश्य जीत लिये जाते हैं जिनका अपने मन तथा इन्द्रियों पर संयम है। वे

आपको इसलिए वश में रख पाते हैं क्योंकि आप उन भक्तों पर अकारण दयालु हैं, जो आपसे किसी प्रकार के लाभ की कामना नहीं करते। निस्सन्देह, आप उन्हें अपने आपको प्रदान कर देते हैं; इसलिए अपने भक्तों पर आपका भी पूरा नियंत्रण रहता है।

तात्पर्य : भगवान् तथा भक्त दोनों की जीत होती है। भगवान् भक्तों द्वारा और भक्त भगवान् द्वारा जीते जाते हैं। एक दूसरे से जीते जाने के कारण ही अपने इस सम्बन्ध से उन्हें दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। इस पारस्परिक विजय की परम सिद्धि कृष्ण तथा गोपियों द्वारा प्रकट है। गोपियों ने कृष्ण को जीत लिया था और कृष्ण ने गोपियों को। इस प्रकार जब भी कृष्ण वंशीवादन करते वे गोपियों के मन को वश में कर लेते और गोपियों को देखे बिना चैन न पाते। अन्य अध्यात्मवादी यथा ज्ञानी तथा योगी भगवान् को नहीं जीत पाते, केवल शुद्ध भक्त ही ऐसा कर पाते हैं।

शुद्ध भक्तों को *सम-मति* कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वे किसी भी परिस्थिति में अपनी भक्ति से विचलित नहीं होते। ऐसा नहीं है कि भक्त सुखी रहने पर ही भगवान् की आराधना करते हैं, वे दुःख में भी उनकी उपासना करते हैं। सुख तथा दुःख से भक्ति की प्रक्रिया पर कोई बाधा नहीं पहुँचती। इसलिए *श्रीमद्भागवत* का कथन है कि *भक्ति अहैतुक्यप्रतिहता* अर्थात् भक्ति निष्काम तथा अबाध है। जब भक्त बिना किसी अभिलाषा के भगवान् की भक्ति करता है (*अन्याभिलाषिता-शून्यम्*) तो उसकी भक्ति किसी भी भौतिक दशा में अवरुद्ध नहीं होती (*अप्रतिहता*)। अतः जो भक्त सभी परिस्थितियों में सेवा करता रहता है, वह श्रीभगवान् को जीत सकता है।

भक्तों तथा अन्य इन्द्रयातीतवादियों यथा ज्ञानियों तथा योगियों में एक विशेष अन्तर यह है कि ज्ञानी तथा योगी ईश्वर के साथ तादात्म्य के लिए कृत्रिम प्रयास करते हैं जबकि भक्त ऐसे असम्भव कार्य की कभी इच्छा नहीं करते। भक्त जानते हैं कि वे परमेश्वर के शाश्वत दास हैं, अतः वे तदाकार नहीं होना चाहते। इसलिए इन्हें *सम-मति* या जितात्मा कहा जाता है। उन्हें परमेश्वर से

तदाकार होने से घृणा है। उनके मन में इसके लिए कोई कामना नहीं है; वे तो भौतिक अहंकार से मुक्त होना चाहते हैं। इसलिए उन्हें *निष्काम* कहा जाता है। जीवात्मा कभी निष्काम नहीं हो सकता, किन्तु जिन इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती उन्हें वासनायुक्त *काम* कहते हैं—*कामैस्तैस्तैर्हत ज्ञानाः*—कामेच्छाओं के कारण वे अपनी बुद्धि खो बैठते हैं। अतः वे ईश्वर को जीत नहीं पाते जबकि भक्त ऐसी तर्करहित इच्छाओं से मुक्त होने के कारण ईश्वर को जीत सकते हैं। ऐसे भक्तों को श्रीभगवान् भी जीत लेते हैं। वे शुद्ध तथा भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने के कारण ईश्वर के शरणागत होते हैं, अतः ईश्वर उनको जीत लेता है। ऐसे भक्त कभी भी मुक्ति की कामना नहीं करते। उनकी एकमात्र इच्छा भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने की होती है। चूँकि वे किसी प्रकार का पारिश्रमिक प्राप्त करने की भावना से ईश्वर की सेवा नहीं करते इसलिए वे ईश्वर के कृपापात्र बन जाते हैं। ईश्वर स्वभाव से ही परम दयालु हैं अतः जब वे देखते हैं कि उनका दास किसी लाभ की आकांक्षा के बिना ही सेवा कर रहा है, तो स्वभावतः वे जीते जाते हैं। भक्त सदैव सेवारत रहते हैं। *स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठ गुणानुवर्णने*—उनकी इन्द्रियों की समस्त गतिविधियाँ भगवान् की सेवा में नियुक्त रहती हैं ऐसी भक्ति के कारण भगवान् अपने आप को अपने भक्तों के हवाले कर देते हैं ताकि वे उन्हें मन-वान्छित कार्य के लिये उपयोग में ला सकें। जब भक्त निष्काम भाव से पूर्ण समर्पण कर देता है, तो भगवान् निश्चय ही उसे अपनी सेवा का अवसर प्रदान करते हैं। भक्तों द्वारा जीते जाने पर ईश्वर की भी यही दशा होती है।

तव विभवः खलु भगवन्

जगदुदयस्थितिलयादीनि ।

विश्वसृजस्तेऽंशांशास्

तत्र मृषा स्पर्धन्ति पृथगभिमत्या ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; विभवः—ऐश्वर्य; खलु—निस्सन्देह; भगवन्—हे भगवान्; जगत्—दृश्य जगत का; उदय—सृष्टि; स्थिति—पालन; लय-आदीनि—संहार इत्यादि; विश्व-सृजः—दृश्य जगत के कर्ता; ते—वे; अंश-अंशाः—आपके अंश के भी अंशस्वरूप; तत्र—उसमें; मृषा—व्यर्थ; स्पर्धन्ति—स्पर्धा करते हैं; पृथक्—अलग; अभिमत्या—मिथ्या विचार से।

हे ईश्वर! यह दृश्य जगत तथा इसकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार—ये सभी आपके ऐश्वर्य हैं। चूँकि ब्रह्मा तथा अन्य कर्ता (निर्माता) आपके अंश के भी क्षुद्र अंश हैं, अतः सृष्टि करने की उनकी आंशिक शक्ति उन्हें ईश्वर नहीं बना सकती। तो भी अपने को पृथक् ईश्वर मान बैठने की चेतना उनके अहंकार मात्र की द्योतक है। यह वैध नहीं है।

तात्पर्य : भगवान् के चरणकमलों की शरण में आया हुआ भक्त यह अच्छी तरह जानता है कि ब्रह्मा से लेकर छोटी से छोटी चींटी तक समस्त जीवात्माओं में सृजन शक्ति इसलिए है क्योंकि वे ईश्वर के भिन्न-अंश हैं। *भगवद्गीता* (१५.७) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतःसनातनः* “इस बद्ध जगत में जीवात्माएँ मेरे ही शाश्वत भिन्न अंश हैं।” जीवात्माएँ परमात्मा के लघु अंश रूप हैं मानो आग की चिनगारियाँ हों। परमात्मा के अंशमात्र होने से उनमें सृजन-शक्ति अत्यल्प रहती है।

आधुनिक जगत के तथाकथित वैज्ञानियों को गर्व है कि उन्होंने वायुयान जैसी आधुनिक सुविधाएँ उत्पन्न की हैं, किन्तु इसका श्रेय भगवान् को ही मिलना चाहिए न कि वैज्ञानिकों को जिन्होंने तथाकथित आश्चर्यजनक चीजें बनाई हैं। पहली विचारणीय बात है वैज्ञानियों की बुद्धि। मनुष्य को भगवान् के आदेश द्वारा ऊपर उठना होता है क्योंकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में उनका वचन है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—“मुझी से स्मृति ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।” परमात्मा प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित है, अतः जिस प्रेरणा (आदेश) से कोई मनुष्य वैज्ञानिक ज्ञान में या सृजन शक्तियों में आगे बढ़ता है, वह उन्हीं ईश्वर से प्राप्त होती है। यही नहीं, जिन अवयवों से वायुयान जैसे अद्भुत यंत्रों का निर्माण होता है वे ईश्वर की देन हैं, वैज्ञानिकों की नहीं। वायुयान बनने के पूर्व इसके सभी अवयवों की सामग्री पहले से श्रीभगवान् द्वारा उत्पन्न की जा चुकी थी। किन्तु जब वायुमान विनष्ट होता है, तो इसका मलवा (ध्वंसावशेष) तथाकथित सृष्टिकर्ताओं के लिए समस्या बन जाता है। एक अन्य उदाहरण है पाश्चात्य लोगों द्वारा स्वचालित वाहनों का निर्माण। इन मोटरकारों के सभी अवयव तथा इनकी सृष्टि के लिए आवश्यक बुद्धि ईश्वर द्वारा प्रदत्त

होती है। अन्त में जब ये कारें नष्ट हो जाती हैं, तो तथाकथित स्रष्टाओं के समक्ष समस्या उठ खड़ी होती है कि इन अवयवों का क्या किया जाए। इनका वास्तविक तथा आद्य सृजनकर्ता तो भगवान् है। बीच के कुछ काल के लिए ही ईश्वर द्वारा प्रदत्त बुद्धि से लोग कुछ वस्तुओं का सृजन करते हैं, बाद में यह वस्तु भार बन जाती है। अतः तथाकथित सृजनकर्ताओं को सृष्टि कार्य का श्रेय नहीं मिलना चाहिए; सारा श्रेय श्रीभगवान् को जाता है। इस श्लोक में यह उचित ही कहा गया है कि सृष्टि, पालन तथा संहार के सारे ऐश्वर्य का श्रेय ईश्वर का है, जीवात्मा का नहीं।

परमाणुपरममहतोस्

त्वमाद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः ।

आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां

यद्ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

परम-अणु—सूक्ष्म कणों का; परम-महतोः—तथा सबसे बड़े (परमाणुओं के संयोग से बने) कणों का; त्वम्—तुम्हीं; आदि-अन्त—आदि तथा अन्त; अन्तर—तथा बीच में; वर्ती—स्थित; त्रय-विधुरः—आरम्भ, अन्त अथवा मध्य से विहीन; आदौ—प्रारम्भ में; अन्ते—अन्त में; अपि—भी; च—तथा; सत्त्वानाम्—समस्त अस्तित्वों का; यत्—जो; ध्रुवम्—अचल; तत्—वह; एव—निश्चय ही; अन्तराले—मध्य में; अपि—भी।

आप इस दृश्य जगत के नन्हें से नन्हें कण-परमाणु से लेकर विराट ब्रह्माण्डों तथा समस्त भौतिक शक्ति तक की प्रत्येक वस्तु के आदि, मध्य तथा अन्त में विद्यमान हैं। फिर भी आप नित्य हैं, जिसका न कोई आदि है, न अन्त या मध्य। आप इन तीनों स्थितियों में विद्यमान देखे जाते हैं; इस तरह आप अटल हैं। जब इस दृश्य जगत का अस्तित्व नहीं रहता तो आप आदि शक्ति के रूप में विद्यमान रहते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्म-संहिता (५.३३) का कथन है—

अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च ।

वेदेषु दुर्लभम् अदुर्लभम् आत्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की उपासना करता हूँ जो आदि पुरुष हैं, परम, अच्युत, अनादि, अनन्त रूपों में विस्तार करते हुए भी वही आदि पुरातन तथा नवयौवन से पूर्ण पुरुष हैं। ऐसे नित्य, आनन्दमय तथा सर्वज्ञ ईश्वर को सर्वोत्तम वेदज्ञानी भी नहीं जान पाते किन्तु शुद्ध भक्तों के समक्ष वे सदैव प्रकट होते हैं।” श्रीभगवान् प्रत्येक वस्तु के कारण हैं, किन्तु उनका कोई कारण नहीं। वे कार्य-कारण से परे हैं। वे शाश्वत हैं। *ब्रह्म-संहिता* के एक अन्य श्लोक में कहा गया है—
अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्—ईश्वर विराट ब्रह्माण्ड तथा परमाणु के भीतर स्थित हैं। इस विराट ब्रह्माण्ड तथा परमाणु के भीतर ईश्वर की उपस्थिति यह सूचित करती है कि उनके बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। विज्ञानियों का कहना है कि जल की उत्पत्ति हाइड्रोजन तथा आक्सिजन के संयोग से होती है, किन्तु जब वे सागर की अनन्त जलराशि देखते हैं, तो उनकी बुद्धि चकरा जाती है कि इतनी मात्रा में हाइड्रोजन और आक्सिजन कहाँ से आई। उनका विचार है सभी वस्तुएँ रसायनों से उद्भूत हुई, किन्तु फिर ये सारे रसायन कहाँ से आये? इसको वे नहीं जानते। चूँकि श्रीभगवान् समस्त कारणों के कारण हैं, अतः वे रासायनिक विकास के लिए प्रचुर मात्रा में रसायन उत्पन्न कर सकते हैं। हम यह देख रहे हैं कि जीवात्माओं से रसायन तैयार होते हैं। उदाहरणार्थ, संतरे के वृक्ष से कई टन सिट्रिक अम्ल उत्पन्न होता है। यह सिट्रिक अम्ल संतरे के वृक्ष का कारण नहीं अपितु वृक्ष इस अम्ल का कारण है। इसी प्रकार भगवान् प्रत्येक वस्तु के कारण हैं। वे सिट्रिक अम्ल को उत्पन्न करने वाले वृक्ष के कारण हैं (*बीजं मां सर्वभूतानाम्*)। भक्त देख सकते हैं कि दृश्य जगत के कारणस्वरूप आदिशक्तियाँ रसायनों में नहीं अपितु भगवान् में निहित हैं, क्योंकि वे ही रसायनों के कारण हैं।

प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति परमेश्वर की शक्ति से हुई है और जब प्रत्येक वस्तु का विलय हो जाता है, तो आदिशक्ति पुनः परमेश्वर के शरीर में प्रवेश करती है। इसलिए यह श्लोक कहता है—
आदावन्तेऽपि च सत्वानां यद् ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि। ध्रुवम् का अर्थ है ‘अविचल’ या ‘स्थायी’।

अविचल सत्य श्रीकृष्ण हैं, यह दृश्य जगत नहीं। भगवद्गीता में कहा गया है—अहं आदिर्हि देवानाम् तथा मत्तः सर्वं प्रवर्तते—श्रीकृष्ण प्रत्येक वस्तु के आदि कारण हैं। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को आदि पुरुष के रूप में पहचाना (पुरुषं शाश्वतं दिव्यं आदिदेवम् अजं विभुम्) तथा ब्रह्म-संहिता भी उन्हें आदि पुरुष के रूप में वर्णन करती है (गोविन्दम् आदि-पुरुषम्)। वही समस्त कारणों के कारण हैं चाहे वह आदि में हो, अन्त में अथवा मध्य में।

क्षित्यादिभिरेष किलावृतः

सप्तभिर्दशगुणोत्तरैरण्डकोशः ।

यत्र पतत्यणुकल्पः

सहाण्डकोटिकोटिभिस्तदनन्तः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

क्षिति-आदिभिः—भौतिक जगत के अवयवों द्वारा, यथा पृथ्वी इत्यादि; एषः—यह; किल—निस्सन्देह; आवृतः—ढका हुआ; सप्तभिः—सात; दश-गुण-उत्तरैः—प्रत्येक अपने से पहले वाले से दस गुना; अण्ड-कोशः—अण्डाकार ब्रह्माण्ड; यत्र—जिसमें; पतति—गिरता है; अणु-कल्पः—सूक्ष्म कण की भाँति; सह—के साथ; अण्ड-कोटि-कोटिभिः—ऐसे करोड़ों ब्रह्माण्डों से; तत्—अतः; अनन्तः—(आप) अनन्त (कहलाते हैं)।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड सात आवरणों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सकल भौतिक शक्ति तथा अहंकार—से घिरा है जिनमें से प्रत्येक अपने से पहले वाले से दस गुना बड़ा है। इस ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त भी असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो असीम और विशाल हैं और आपमें स्थित परमाणुओं की भाँति चक्कर लगाते रहते हैं। इसलिए आप अनन्त कहलाते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्म-संहिता (५.४८) का कथन है—

यस्यैकनिश्चितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमवलिजा जगदण्डनाथाः ॥

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

इस भौतिक सृष्टि के उद्गम महाविष्णु हैं, जो कारण-समुद्र में शयन करते हैं। इस समुद्र में

शयन करते हुए उनके निःश्वास से लाखों ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और जब वे श्वास अन्दर लेते हैं, तो उन सबका संहार हो जाता है। यह महाविष्णु, विष्णु अथवा गोविन्द के अंश के भी अंश हैं (यस्य कला विशेषः)। कला शब्द अंश के भी अंश का द्योतन करता है। कृष्ण अथवा गोविन्द से बलराम, बलराम से संकर्षण, फिर इनसे नारायण, नारायण से द्वितीय संकर्षण जिनसे महाविष्णु, उनसे गर्भोदकशायी विष्णु और इनसे क्षीरोदकशायी विष्णु उत्पन्न हैं। क्षीरोदकशायी विष्णु प्रत्येक ब्रह्माण्ड को नियंत्रित करते हैं इससे अनन्त के अर्थ का अनुमान लग जाता है। तो फिर ईश्वर की अनन्त शक्ति तथा उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में क्या कहना? इस श्लोक में ब्रह्माण्ड के आवरणों का वर्णन हुआ है (सप्तभिर्दश-गुणोत्तरैरण्डकोशः)। पहला आवरण पृथ्वी का है, दूसरा जल का, तीसरा अग्नि, चौथा वायु, पाँचवाँ आकाश, छठा सकल भौतिक शक्ति तथा सातवाँ अहंकार का। पृथ्वी के आवरण से प्रारम्भ करके प्रत्येक अगला आवरण दस गुना विस्तृत है। इस प्रकार हम केवल कल्पना कर सकते हैं कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड कितना विशाल है। फिर ऐसे लाखों ब्रह्माण्ड हैं। भगवद्गीता (१०.४२) में ईश्वर ने स्वयं इसकी पुष्टि की है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

“हे अर्जुन! इस विस्तृत ज्ञान की क्या आवश्यकता है? मैं अपने एक अंशमात्र से इस सम्पूर्ण जगत में व्याप्त होकर इसे धारण किए हुए हूँ, यह समस्त जगत परमेश्वर की चतुर्थांश शक्ति को प्रकट करता है। इसलिए वह अनन्त कहलाता है।”

विषयतृषो नरपशवो

य उपासते विभूतीर्न परं त्वाम् ।

तेषामाशिष ईश

तदनु विनश्यन्ति यथा राजकुलम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

विषय-तृषः—इन्द्रिय-तृप्ति के उत्सुक; नर-पशवः—पशुतुल्य मनुष्य; ये—जो; उपासते—अत्यन्त भव्य आराधना करते हैं; विभूतीः—परमेश्वर के लघु कण (देवतागण); न—नहीं; परम्—परमात्मा; त्वाम्—तुम (आप) को; तेषाम्—उनका; आशिषः—आशीर्वाद; ईश—हे परम नियन्ता; तत्—उन (देवताओं) को; अनु—तत्पश्चात्; विनश्यन्ति—विनष्ट होंगे; यथा—जिस प्रकार; राज-कुलम्—सरकार (राज्य) द्वारा सहायता प्राप्त (सरकार के भंग होने पर)।

हे भगवन्, हे परमेश्वर! इन्द्रियतृप्ति के भूखे तथा विभिन्न देवताओं की उपासना करने वाले अज्ञानी पुरुष नर-वेश में पशुओं के समान हैं। वे पाशविक वृत्ति के कारण आपकी उपासना न करके नगण्य देवताओं को, जो आपके यश की लघु चिनगारी के समान हैं, पूजते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के संहार के साथ ये देवता तथा इनसे प्राप्त आशीर्वाद उसी प्रकार विनष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार राजा की सत्ता छिन जाने पर राजकीय अधिकारी।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.२०) का कथन है—*कामैस्तैस्तैर्हृत ज्ञानाः* प्रपद्यन्ते देवताः “जिनके मन भौतिक कामनाओं से विकृत हो चुके हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं।” इसी प्रकार इस श्लोक में भी देवताओं की उपासना की भर्त्सना की गयी है। हम देवताओं का आदर कर सकते हैं, किन्तु वे पूजनीय नहीं हैं। जो मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि मारी गयी होती है (*हतज्ञानाः*) क्योंकि वे यह नहीं जानते कि जब इस भौतिक दृश्य जगत का संहार होगा तो ये सारे देवता भी, जो जगत के विभागाध्यक्ष हैं, नष्ट हो जाएँगे। और जब देवता नष्ट हो जाएँगे तो उन्होंने अज्ञानी मनुष्यों को जो वर दिये हैं, वे भी नष्ट हो जाएँगे। इसलिए भक्त को चाहिए कि देवताओं की पूजा करके भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा न करे वरन् ईश्वर की सेवा करे जो इनकी आकांक्षाओं को पूरा करने वाले हैं। *भागवत* (२.३.१०) का वचन है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।

तीणेव्र भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

“चाहे भौतिक कामनाओं से पूर्ण हो या उनसे मुक्त या मुक्ति का इच्छुक हो, व्यापक दृष्टि से बुद्धिमान मनुष्य को सभी प्रकार से परम पुरुष परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए।” यह सिद्ध मनुष्य का परम कर्तव्य है। जिसका रूप मनुष्य का और कर्म पशु जैसे होते हैं वह नर-पशु या द्विपद-पशु कहलाता है। जो मनुष्य कृष्णभावनामृत में रुचि नहीं रखता उसकी भर्त्सना यहाँ नर-पशु के रूप में

की गई है।

कामधियस्त्वयि रचिता

न परम रोहन्ति यथा करम्भबीजानि ।

ज्ञानात्मन्यगुणमये

गुणगणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

काम-धियः—इन्द्रिय-तृप्ति की आकांक्षाएँ; त्वयि—तुममें; रचिताः—सम्पन्न की गई; न—नहीं; परम—भगवान्; रोहन्ति—उगते हैं (अन्य शरीर उत्पन्न करते हैं); यथा—जिस प्रकार; करम्भ-बीजानि—भुने बीज; ज्ञान-आत्मनि—तुममें जो ज्ञान से पूर्ण हैं; अगुण-मये—जो भौतिक गुणों से अप्रभावित रहता है; गुण-गणतः—भौतिक गुणों में से; अस्य—व्यक्ति का; द्वन्द्व-जालानि—द्वैतता का जाल।

हे परमेश्वर! यदि ऐश्वर्य द्वारा इन्द्रियतृप्ति पाने के इच्छुक व्यक्ति भी समस्त ज्ञान के स्रोत तथा भौतिक गुणों से परे आपकी उपासना करते हैं, तो उनका पुनर्जन्म नहीं होता जिस प्रकार भुने बीज से पौधे नहीं उत्पन्न होते। जीवात्माओं को जन्म तथा मृत्यु का चक्र भोगना पड़ता है क्योंकि वे भौतिक प्रकृति द्वारा बद्ध हैं परन्तु आप दिव्य हैं, अतः जो आपसे संगति करता है, वह भौतिक प्रकृति के बन्धन से छूट जाता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (४.९) में कृष्ण द्वारा इसकी पुष्टि की गई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवंयो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव तथा मेरे कर्म दिव्य हैं, इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्व को जानता है, वह देह त्यागने पर फिर इस भौतिक संसार में जन्म नहीं लेता वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त हो जाता है।” यदि कोई श्रीकृष्ण को समझने के लिए अपने आपको कृष्णभावनामृत में लगाता है, तो उसे जन्म-मृत्यु का चक्कर नहीं सताता। जैसा कि भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—ऐसा व्यक्ति कृष्ण-भक्ति में अथवा श्रीभगवान् को जानने में संलग्न रहकर भगवान् के धाम वापस जाने के लिए योग्य बन जाता है। यहाँ तक कि भौतिक विषयवासनाओं से ग्रस्त

व्यक्ति भी श्रीभगवान् की भक्ति करता है, वह भले ही भौतिक कामनाओं से पूरित हो, किन्तु वह ईश्वर के पवित्र नाम का जप करते रहने से कृष्ण के चरणारविन्द के प्रति आकृष्ट होता जाता है। परमेश्वर तथा उनका पवित्र नाम एक ही हैं। इस प्रकार भौतिक सुख से उसे विरक्ति होने लगती है। जीवन की पूर्णता इसीमें है कि भौतिक सुख में विरक्ति हो और श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग हो। यदि कोई येन-केन-प्रकारेण कृष्ण-भक्ति करता है भले ही वह भौतिक लाभ के लिए क्यों न हो, तो उसको मुक्ति मिल जाती है। *कामाद् द्वैषाद् भयात् स्नेहात्*। चाहे कोई कामवश, द्वेषवश, भयवश या स्नेहवश अथवा किसी और कारणवश, कृष्ण के पास जाता है, तो उसका जीवन धन्य हो जाता है।

जितमजित तदा भवता

यदाह भागवतं धर्ममनवद्यम् ।

निष्किलुषा ये मुनय

आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जितम्—जीत लिया; अजित—हे अजित, न जीते जा सकने योग्य; तदा—तब; भवता—आपके द्वारा; यदा—जब; आह—कहा; भागवतम्—जो भक्त को ईश्वर के पास पहुँचाने में सहायक होता है; धर्मम्—धर्म; अनवद्यम्—दोषरहित (निष्कलुष); निष्किलुषा:—जो ऐश्वर्य के द्वारा सुखी होने की इच्छा नहीं रखते; ये—जो; मुनय:—बड़े-बड़े विचारक तथा महान् साधु; आत्म-आरामा:—आत्म-तुष्ट, आत्माराम; यम्—जिसको; उपासते—पूजते हैं; अपवर्गाय—भौतिक बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए।

हे अजित! जब आपने भागवत-धर्म कह सुनाया जो आप के चरणकमलों में शरण लेने के लिए अकलुषित धार्मिक प्रणाली थी, तो वह आपकी विजय थी। आत्मतुष्ट (आत्माराम) चतुःसन के समान निष्काम व्यक्ति, भौतिक कल्मष से मुक्त होने के लिए आपकी उपासना करते हैं। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि वे आपके चरणारविन्द की शरण प्राप्त करने के लिए भागवतधर्म को ग्रहण करते हैं।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* में इस प्रकार कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

“मनुष्य को चाहिए कि भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति अनुकूल होकर तथा बिना किसी भौतिक लाभ, या सकाम कर्म करके या मानसिक चिन्तन के माध्यम से लाभ प्राप्त करने की इच्छा से करे। यह शुद्ध भक्ति कहलाती है।”

नारद पञ्चरात्र में भी कहा गया है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्

हृषीकेण सेवनं भक्ति रुच्यते ॥

“मनुष्य को समस्त उपाधियों तथा कल्मषों से रहित होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त करे जिसमें वह अपनी इन्द्रियों को उनके स्वामी की सेवा में लगाता है इसे भक्ति कहते हैं। यही भागवत्-धर्म कहलाता है। मनुष्य को चाहिए कि निष्काम भाव से श्रीकृष्ण की सेवा करे—यही भगवद्गीता, नारद-पंचरात्र तथा श्रीमद्भागवत का उपदेश है। भागवत-धर्म, धर्म की वह प्रक्रिया है, जिसे नारद, शुकदेव गोस्वामी तथा उनकी शिष्य-परम्परा के विनम्र भक्तों द्वारा, जो श्रीभगवान् के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि हैं, व्याख्यायित है। भागवत धर्म को समझ कर मनुष्य तुरन्त ही भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। जीवात्माएँ श्रीभगवान् के अंशरूप होकर सांसारिक दुखों के बीच विचर रही हैं। जब भगवान् उन्हें स्वयं भागवत-धर्म का उपदेश देते हैं और यह भगवान् की विजय है, क्योंकि तब वे इन आत्माओं को पुनः अपना लेते हैं। भागवत-धर्म का अनुयायी भक्त श्रीभगवान् का अत्यन्त कृतज्ञ रहता है। वह भागवत-धर्म से युक्त तथा उससे रहित जीवन के अन्तर को समझता है। श्रीकृष्ण की भक्ति ग्रहण करना और पतित आत्माओं को कृष्णभावनामृत में लगाना भगवान् कृष्ण की विजय है।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

“समस्त मानवता का वही परम धर्म है, जिससे मनुष्य दिव्य परमेश्वर के प्रति प्रेमाभक्ति प्राप्त कर सके। आत्मतोष के निमित्त ऐसी भक्ति को अबाध तथा निरुद्देश्य होना चाहिए (भागवत

१.२.६)। अतः श्रीमद्भागवत ही धर्म की शुद्ध दिव्य प्रक्रिया है।

विषममतिर्न यत्र नृणां

त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र ।

विषमधिया रचितो यः

स ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विषम—असमान (तेरा धर्म, मेरा धर्म या तेरा विश्वास, मेरा विश्वास); मति:—चेतना; न—नहीं; यत्र—जिसमें; नृणाम्—मानव समाज का; त्वम्—तुम; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; मम—मेरा; तव—तेरा; इति—इस प्रकार; च—भी; यत्—जो; अन्यत्र—और कहीं (भागवत-धर्म के अतिरिक्त); विषम-धिया—इस विषम बुद्धि के कारण; रचितः—निर्मित; यः—जो; सः—वह धर्म-पद्धति; हि—निस्सन्देह; अविशुद्धः—अशुद्ध; क्षयिष्णुः—क्षणिक, नाशवान्; अधर्म-बहुलः—अधर्म से पूर्ण।

भागवतधर्म को छोड़कर शेष सभी धर्म पारम्परिक विरोधाभासों से पूर्ण हैं और कर्मफल की सकाम विचारधारा और 'तू और मैं' तथा 'तेरा और मेरा' जैसे भेदभावों से पूर्ण हैं। श्रीमद्भागवत के अनुयायियों में ऐसी चेतना नहीं रहती। वे कृष्णभावनामृत से पूरित रहते हैं और अपने को श्रीकृष्ण का और श्रीकृष्ण को अपना मानते हैं। कुछ निम्नकोटि की भी धार्मिक पद्धतियाँ हैं, जो शत्रुओं को मारने या योगशक्ति प्राप्त करने के लिए निर्मित हैं, किन्तु ये काम तथा द्वेष से पूर्ण होने के कारण अशुद्ध एवं नाशवान् हैं। द्वेषपूर्ण होने से वे अधर्म से पूर्ण हैं।

तात्पर्य : भागवत-धर्म विरोधाभासों से रहित है। इसमें 'तुम्हारा धर्म' या 'मेरा धर्म' जैसे विचार नहीं मिलते। भागवत-धर्म का अभिप्राय है भगवान् के आदेशों का पालन, जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज—ईश्वर एक है और वह सबका है। अतः मनुष्य को चाहिए कि उन्हीं की शरण में जाए। धर्म का यही शुद्ध मत है। ईश्वर के आदेशों से ही धर्म बनता है—(धर्म तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतम्)। भागवत्-धर्म में 'तुम्हारा क्या विश्वास है' और 'मेरा क्या विश्वास है' इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक व्यक्ति को परमेश्वर में विश्वास करना चाहिए और उनके आदेशों का पालन करना चाहिए। आनुकूल्येन*

कृष्णानुशीलनम्—श्रीकृष्ण अर्थात् ईश्वर जो कुछ भी कहें उसको प्रत्यक्षतः सम्पन्न करना चाहिए। यही धर्म है।

यदि वास्तव में कोई कृष्णभावनाभावित है, तो उसका कोई शत्रु नहीं हो सकता। चूँकि इसका एकमात्र कार्य अन्यो को श्रीकृष्ण या ईश्वर के प्रति समर्पित होने के लिए प्रेरित करना है, तो उसके शत्रु कैसे होंगे? यदि कोई हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, ईसाई धर्म या अन्य किसी धर्म का पक्ष लेता है, तो संघर्ष हो सकता है। इतिहास बताता है कि ईश्वर की स्पष्ट संकल्पना के बिना चलने वाले विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय परस्पर लड़ते-भिड़ते रहे हैं। मानव इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं। किन्तु ऐसे धर्म जो परमेश्वर की सेवा पर ध्यान नहीं देते वे नश्वर होते हैं और द्वेष से पूर्ण होने के कारण दीर्घकाल तक नहीं चल पाते। ऐसी बहुत सी गतिविधियाँ हैं, जो ऐसी धर्म-पद्धतियों के विरुद्ध कार्य करती हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह 'मेरा विश्वास' या 'तेरा विश्वास' जैसे विचारों को त्याग दे। हर एक मनुष्य को ईश्वर में विश्वास करना चाहिए और उन्ही की शरण में जाना चाहिए। यही भागवत-धर्म है।

भागवत-धर्म कोई आडम्बर नहीं, इसमें तो कृष्ण से प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध का अनुशीलन किया जाता है (ईशावस्यम् इदं सर्वम्)। वैदिक आदर्शों के अनुसार—सर्वं खल्व् इदं ब्रह्म—सभी वस्तुओं में ब्रह्म विद्यमान है। भागवत-धर्म परमेश्वर की इसी उपस्थिति को ग्रहण करता है। वह इस संसार की प्रत्येक वस्तु को मिथ्या नहीं मानता। चूँकि प्रत्येक वस्तु परम से उद्भूत है। अतः प्रत्येक वस्तु का ईश्वर की सेवा में कुछ न कुछ उपयोग है। उदाहरणार्थ, इस समय हम माइक्रोफोन में बोल कर लिखा रहे हैं और उसका श्रुतिलेखन मशीन पर अंकन होता जा रहा है। इस प्रकार हमें ज्ञात हो रहा है कि मशीन भी किस प्रकार परब्रह्म से सम्बन्धित हो सकती है। चूँकि हम इसका उपयोग भगवान् की सेवा के लिए कर रहे हैं अतः यह ब्रह्म है। सर्वं खल्व् इदं ब्रह्म—का यही अर्थ है। प्रत्येक वस्तु इसलिए ब्रह्म है क्योंकि वह भगवान् की सेवा के कार्य में आ सकती है। कुछ भी मिथ्या नहीं, सभी कुछ सत्य है।

भागवत-धर्म को सब धर्मों में सर्वोत्कृष्ट कहा जाता है क्योंकि इसके अनुयायी किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं रखते। शुद्ध भागवत अर्थात् शुद्ध भक्त किसी द्वेष के बिना सबों को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित करते हैं। इस प्रकार भक्त ठीक श्रीभगवान् की तरह होता है। सुहृदं-सर्वभूतानाम्—वह समस्त जीवात्माओं का सखा है। इसलिए यह धर्म सभी धर्मों में श्रेष्ठ है। जबकि तथाकथित दूसरे धर्म किसी विशेष प्रकार के व्यक्ति के लिए होते हैं जो किसी एक विचारधारा को मानते हैं। ऐसी विचारधारा का भागवत-धर्म या कृष्ण-भक्ति में कोई स्थान नहीं है। यदि हम उन समस्त धर्मों की छानबीन करें जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को छोड़कर अन्य देवताओं या किसी और की उपासना करते हैं, तो हमें पता चलेगा कि वे द्वेषों से पूर्ण हैं अतः अशुद्ध हैं।

कः क्षेमो निजपरयोः

कियान्वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण ।

स्वद्रोहात्तव कोपः

परसम्पीडया च तथाधर्मः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कः—क्या; क्षेमः—लाभ; निज—अपना; परयोः—तथा पराया; कियान्—कितना; वा—अथवा; अर्थः—उद्देश्य; स्व-पर-द्रुहा—जो कर्ता तथा अन्यो के प्रति द्वेष करता है; धर्मेण—धर्म से; स्व-द्रोहात्—अपने आप द्वेष पूर्ण होने से; तव—तुम्हारा; कोपः—क्रोध; पर-सम्पीडया—अन्यो को कष्ट पहुँचा कर; च—भी; तथा—और; अधर्मः—अधर्म।

ऐसा धर्म जिससे अपने तथा परायों में द्वेष उत्पन्न होता है किस प्रकार लाभप्रद हो सकता है? ऐसे धर्म का पालन करने से कौन सा कल्याण हो सकता है? इससे आखिर क्या मिलेगा? आत्म द्वेष के द्वारा अपने आपको तथा अन्यो को कष्ट पहुँचा कर मनुष्य आपके (भगवान् के) क्रोध का भाजन होता है और अधर्म करता है।

तात्पर्य : भागवत-धर्म के अतिरिक्त कोई भी धर्म अपने तथा अन्यो के प्रति द्वेष का कारण बनता है। उदाहरणार्थ, ऐसे अनेक धर्म हैं जिनमें पशु-वध की संस्तुति की जाती है। कर्ता तथा पशु दोनों के लिए ऐसी पशुबलि अमंगलकारक है। यद्यपि कभी-कभी देवी काली के समक्ष पशु की

बलि चढ़ाकर देवी के ही समक्ष बूचड़ खाने से मांस खरीदकर खाने के बजाय उसी पशु का मांस खाने की आज्ञा दी जाती है, किन्तु देवी काली की उपस्थिति में मांस खाने की यह आज्ञा श्रीभगवान् की आज्ञा नहीं होती। यह तो उस बेचारे व्यक्ति को छुट देना है, जो मांस खाना नहीं त्याग पाता। यह तो अनाप-सनाप रूप से मांस खाते रहने पर अंकुश है। ऐसा धर्म निन्दनीय है। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—अन्य सभी कर्मों (धर्मों) को त्याग कर मेरी शरण में आओ। धर्म में यही अन्तिम शब्द है।

कोई-कोई यह तर्क कर सकते हैं कि पशुबलि की संस्तुति वेदों में तो की गई है। किन्तु यह संस्तुति एक प्रकार से प्रतिबन्ध है। मांस की खरीद पर वेदों द्वारा प्रतिबन्ध न लगाये जाने से लोग बाजार से मांस खरीदेंगे और बाजारों में मांस की दुकानों में बढ़ोतरी होगी और कसाईघरों में वृद्धि होगी। इस पर प्रतिबन्ध के हेतु कभी-कभी वेदों में कहा गया है कि देवी काली के समक्ष बकरे जैसे किसी पशु का वध करके उसका मांस खाया जा सकता है। चाहे जो भी धर्म हो जिसमें पशु-यज्ञ की अनुमति दी जाती है, वह यज्ञकर्ता तथा पशु दोनों ही के लिए अशुभ है। *भगवद्गीता*(१६.१७) में ऐसे ईर्ष्यालु मनुष्यों की भर्त्सना की गई है, जो दिखावे के लिए पशु-यज्ञ करते हैं—

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

“वे अपने को ही श्रेष्ठ मानते हुए, सदा अशिष्ट व्यवहार करने वाले, धन तथा झूठे मान के मद में अंधे कभी कभी शास्त्रविधि का पालन किये बिना ही नाम के लिए यज्ञ करते हैं।” कभी-कभी देवी काली की पूजा के लिए भव्य आयोजन करके पशु-यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु ऐसे उत्सव भले ही यज्ञ कह कर किये जाँय, वास्तव में यज्ञ नहीं हैं, क्योंकि यज्ञ का अर्थ है श्रीभगवान् को प्रसन्न करना। इसलिए इस युग में विशेष रूप से यज्ञैः *सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*—जिनकी विमल बुद्धि है उन्हें यज्ञपुरुष विष्णु को हरे कृष्णमंत्र के जप से तुष्ट करना चाहिये। किन्तु

श्रीभगवान् द्वारा द्वेषपूर्ण व्यक्तियों की भर्त्सना निम्नवित् की जाती है, यथा (भगवद्गीता १६.१८-१९) —

अहंकारं बलं दर्पं क्रोधं च संश्रिताः ।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

“असुर मिथ्या अहंकार, बल, घमंड, काम तथा क्रोध में मोहग्रस्त होकर उन श्रीभगवान् से द्वेष करता है, जो उसके अपने तथा अन्यो के शरीरों में स्थित हैं और इस प्रकार असली धर्म की निन्दा करता है। जो द्वेषपूर्ण तथा दुराचारी हैं और जो मनुष्यों में अधम हैं उन्हें मैं भवसागर में, निरन्तर आसुरी योनियों में डालता हूँ।” भगवान् ऐसे पुरुषों की भर्त्सना करते हैं, जैसाकि *त्वकोपः* शब्दों से प्रकट है। हत्या करने वाला पुरुष अपने आप से तथा मारे गये व्यक्ति से ईर्ष्या करता है, क्योंकि हत्या करने का परिणाम यह होता है कि वह पकड़ा जाएगा और शूली पर चढ़ाया जाएगा। भले ही कोई मनुष्यनिर्मित राज्य के नियमों की अवज्ञा करके मृत्यु दंड से अपने को बचा ले, किन्तु वह ईश्वरीय नियमों से नहीं बच सकता। किसी भी पशु का हन्ता अगले जीवन में उसी पशु द्वारा मारा जायेगा। यही प्रकृति का नियम है। मनुष्य को भगवान् के आदेशों का पालन करना ही चाहिए। *सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—यदि कोई किसी अन्य तथाकथित धर्म का पालन करता है, तो श्रीभगवान् उसे अनेक प्रकार से दण्डित करते हैं। इस प्रकार यदि कोई कल्पित धर्म का पालन करता है, तो वह न केवल अन्यो के प्रति ईर्ष्या करता है, वरन् अपने आपसे भी करता है। अतः उसका धर्म निरर्थक है।

श्रीमद्भागवत (१.२.८) का कथन है—

धर्मःस्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

“यदि परमेश्वर के संदेश के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने में अक्षम रहें तो चाहे जिस वृत्ति के पुरुष द्वारा धर्म (कर्तव्य) किया जाये वे धर्म निरर्थक श्रम के सदृश हैं।” ऐसा धर्म, जो कृष्णभक्ति उत्पन्न न कर सके, समय तथा श्रम का अपव्यय मात्र है।

न व्यभिचरति तवेक्षा

यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः ।

स्थिरचरसत्त्वकदम्बेष्व्

अपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; व्यभिचरति—असफल होती है; तव—तुम्हारी; ईक्षा—दृष्टि; यया—जिससे; हि—निस्सन्देह; अभिहितः—कथित; भागवतः—आपके उपदेशों तथा गतिविधियों के अनुसार; धर्मः—धार्मिक नियम; स्थिर—अचल; चर—चल; सत्त्व-कदम्बेषु—जीवात्माओं में से; अपृथक्-धियः—जो भेदभाव नहीं विचारते; यम्—जिसको; उपासते—पालन करते हैं; तु—निश्चय ही; आर्याः—सभ्यता में अग्रणी लोग।

हे भगवन्! जीवन के महदुद्देश्य से विचलित न होने वाले आपके दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य का वृत्तिपरक धर्म श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता में उपदिष्ट होना है। जो मनुष्य आपके आदेशानुसार इस धर्म का पालन करते हैं, जड़ तथा चेतन समस्त जीवात्माओं को समान मानते हैं और किसी को उच्च तथा निम्न नहीं मानते हैं, वे आर्य कहलाते हैं। ऐसे आर्य आप की अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की उपासना करते हैं।

तात्पर्य : भागवत-धर्म तथा कृष्णकथा एक ही हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति गुरु बन कर भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, अन्य पुराणों, वेदान्त सूत्र तथा इसी प्रकार के वैदिक ग्रंथों से सर्वत्र श्रीकृष्ण के उपदेशों का प्रचार करे। सभ्यता में अग्रणी आर्य लोग भागवत-धर्म का पालन करते हैं। पाँच वर्ष का एक बालक होते हुए भी प्रह्लाद महाराज ने कहा (भागवत ७.६.१)—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह ।

दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥

प्रह्लाद महाराज अपने सहपाठियों को *भागवत-धर्म* का उपदेश उस समय देते जब कक्षा में अध्यापक के अनुपस्थित होने से उन्हें अवसर मिल जाता। उनका कथन है कि जीवन के आरम्भ होते ही बच्चों को पाँच वर्ष की आयु से ही *भागवत-धर्म* की शिक्षा दी जानी चाहिए, क्योंकि यह मनुष्य देह जो अत्यन्त दुर्लभ है इस विषय को समझने के लिए है।

भागवत-धर्म का अभिप्राय है श्रीभगवान् के आदेशानुसार जीवन बिताना। *भगवद्गीता* में हम देखते हैं कि परमेश्वर ने मानव-समाज को चार सामाजिक विभागों में नियोजित किया है। ये हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। पुनः पुराणों तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में भी चार आश्रम वर्णित हैं, जो आध्यात्मिक जीवन के विभाग हैं। अतः *भागवत-धर्म* का अर्थ है चार प्रकार के सामाजिक तथा आध्यात्मिक विभागों का वर्णाश्रम धर्म।

मानव समाज के वे सभी सदस्य जो *भागवत-धर्म* का कठोरता से पालन करते हैं तथा श्रीभगवान् के उपदेशों के अनुसार जीवनयापन करते हैं, आर्य कहलाते हैं। ऐसे आर्यों की सभ्यता जो भगवान् के उपदेशों का कठोरता से पालन करते हैं और इन से कभी विचलित नहीं होते, पूर्ण हैं। ऐसे सभ्य मनुष्य वृक्षों, पशुओं मनुष्यों तथा अन्य जीवात्माओं में कोई भेदभाव नहीं रखते। *पंडिताः समदर्शिनः*—कृष्णभावनामृत में पूर्णतः सुशिक्षित होने से वे प्राणियों को समभाव से देखते हैं। आर्यजन एक छोटे से पौधे तक को वृथा नहीं काटते, बड़े-बड़े वृक्षों को इन्द्रियतृप्ति हेतु काटने की बात तो दूर रही। इस समय सम्पूर्ण विश्व में हत्या का बोलबाला है। मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के हेतु वृक्षों की, पशुओं की, यहाँ तक कि मनुष्यों की भी हत्या करते हैं। किन्तु यह आर्य सभ्यता नहीं है। जैसाकि यहाँ कहा गया है—*स्थिरचरसत्त्वकदम्बेष्ववपृथग्धियः। अपृथग्-धियः* शब्द बताता है कि आर्य लोग जीव की उच्च तथा निम्न कोटियों में भेदभाव नहीं रखते हैं। समस्त प्रकार के जीवों की रक्षा होनी चाहिए। सभी जीवों को जीने का अधिकार है, चाहे वे पशु हों या पौधे। आर्य सभ्यता का यही मूल सिद्धान्त है। निम्न जीवों के अतिरिक्त जितने भी जीव मानवीय सभ्यता को प्राप्त हो चुके हैं उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के समाज में विभाजित करना चाहिए।

ब्राह्मणों को चाहिए कि वे *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में वर्णित श्रीभगवान् के उपदेशों का पालन करें। जिसके लिए गुण तथा कर्म को आधार बनाना चाहिए। इसे यों भी कह सकते हैं कि मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के गुण अर्जित करके तदनुसार कर्म करना चाहिए। इसी सभ्यता को आर्यों ने ग्रहण किया है। उन्होंने ऐसा क्यों किया है? क्योंकि वे श्रीकृष्ण को प्रसन्न रखने के इच्छुक हैं। यही परिपूर्ण सभ्यता है।

आयजन न तो कृष्ण के उपदेशों से विपथ होते हैं और न उन्हें श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह है, किन्तु जो अनार्य तथा अन्य आसुरी लोग हैं, वे *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के उपदेशों का पालन नहीं करते। इसका कारण यही है कि उन्हें अन्य जीवात्माओं के बलिदान पर इन्द्रियतृप्ति करते रहने की शिक्षा दी गई है। *नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म*—उनका एकमात्र कार्य इन्द्रियतृप्ति के हेतु सभी प्रकार की वर्जित गतिविधियाँ करना है। *यद् इन्द्रिय-प्रीतया-पृणोति*—अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करने के इच्छुक होने से वे इस प्रकार विचलित होते हैं। उनके न तो कोई अन्य कार्य होता है न अभिलाषा रहती है। पिछले श्लोक में उनकी सभ्यता प्रणाली की भर्त्सना की गई है। *कः क्षेमो निजपरयोः कियान् वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण*—“ऐसी सभ्यता से क्या लाभ जो अपने आपकी तथा अन्यो की हत्या करती हो।”

अतः यह श्लोक प्रत्येक मनुष्य को आर्य सभ्यता का सदस्य बनने एवं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के उपदेशों को स्वीकार करने की सलाह देता है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के उपदेशानुसार ही अपने सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक कार्य करे। श्रीकृष्ण द्वारा इच्छित समाज की स्थापना करने के प्रयास हेतु हम कृष्णभावनामृत आंदोलन का प्रसार कर रहे हैं। कृष्णभावनामृत का यही अभिप्राय है। इसलिए हम *भगवद्गीता* को यथारूप में प्रस्तुत कर रहे हैं और समस्त प्रकार के मनोरथों को पास नहीं फटकने देते। मूढ़ तथा उचक्रे लोग *भगवद्गीता* की अपने ढंग से व्याख्या करते लगते हैं। जब श्रीकृष्ण कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—अर्थात् सदैव मेरा स्मरण करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो—तो उनकी टीका है

हमें जिनकी शरण में जाना है वे कृष्ण नहीं। इस प्रकार वे भगवद्गीता का काल्पनिक अर्थ लगाते हैं। किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज के पूर्ण कल्याण हेतु भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत के उपदेशों का अर्थात् भागवत-धर्म का कठोरता से पालन करता है। जो भगवद्गीता को तोड़-मरोड़ कर अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के हेतु कोई अर्थ निकालता है, वह अनार्य है। अतः ऐसे व्यक्तियों द्वारा की गई भगवद्गीता की टीकाओं का बहिष्कार करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि यथारूप में भगवद्गीता का पालन करे। श्रीकृष्ण भगवान् भगवद्गीता (१२.६-७) में कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितवेतसाम् ॥

“जो अपने सम्पूर्ण कर्मों को मुझे अर्पित करके और अनन्य भक्ति के परायण होकर नित्य निरन्तर मेरा ही भजन-चिन्तन करते हैं, मुझमें एकान्तिक भाव से मन को अनुरक्त करते हैं, हे पार्थ! मैं उन भक्तों का जन्म-मृत्यु रूपी संसार-सागर से अतिशीघ्र उद्धार करता हूँ।”

न हि भगवन्नघटितमिदं

त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः ।

यन्नाम सकृच्छ्रवणात्

पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; भगवन्—हे भगवान्; अघटितम्—जो कभी न हुआ हो; इदम्—यह; त्वत्—तुम्हारे; दर्शनात्—दर्शन से; नृणाम्—समस्त मनुष्यों का; अखिल—सम्पूर्ण; पाप—पापों का; क्षयः—संहार; यत्—नाम—जिसका नाम; सकृत्—केवल एक बार; श्रवणात्—सुनने से; पुक्कशः—निम्नतम जाति, चण्डाल; अपि—भी; विमुच्यते—छूट जाता है; संसारात्—इस संसार के बन्धन से।

हे भगवन्! आपके दर्शनमात्र से किसी के लिए भी समस्त भौतिक कल्मषों से तुरन्त

मुक्त हो जाना असम्भव नहीं है। आपको प्रत्यक्ष देखने की बात तो एक ओर रही; आपके पवित्र नाम को एक बार सुन लेने से ही चण्डाल तक समस्त भौतिक कल्मष से विमुक्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में आपके दर्शनमात्र से ऐसा कौन है, जो भौतिक कल्मष से मुक्त नहीं हो पायेगा ?

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१५.१६) में कहा गया है— *यन्नाम श्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः*—ईश्वर का पवित्र नाम सुनने मात्र से ही मनुष्य तुरन्त शुद्ध हो जाता है। अतः इस कलियुग में, जबकि सभी मनुष्य कल्मषग्रस्त हैं, भगवन्नाम जप को सुधार का एकमात्र साधन संस्तुत किया गया है।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

“कलह तथा छल-छद्म के इस युग में उद्धार का एकमात्र साधन भगवान् के पवित्र नाम का जप है। इसका कोई अन्य साधन नहीं है, कोई अन्य साधन नहीं, कोई अन्य साधन नहीं है।” (*बृहन्नारदीय पुराण*)। पाँच सौ वर्ष पूर्व चैतन्य महाप्रभु ने पवित्र नाम के इस जप का सूत्रपात किया और हम कृष्णभावनामृत आन्दोलन के माध्यम से अब यह देख रहे हैं कि निम्न श्रेणी के व्यक्ति भगवान् के पवित्र नाम को सुनने मात्र से ही समस्त पापकर्मों से छुटकारा पा रहे हैं। यह संसार पापकर्मों का परिणाम है। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति धिक्कारणीय है, तो भी जिस प्रकार कैदियों की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ होती हैं उसी प्रकार मनुष्यों की भी विभिन्न श्रेणियाँ हैं। वे जीवन की समस्त अवस्थाओं में दुख भोग रहे हैं। सांसारिक दुखों को रोकने के लिए हरे कृष्ण *सङ्कीर्तन* आन्दोलन को या कृष्ण-भावनामृत के जीवन को अपनाना चाहिए।

यहाँ पर कहा गया है *यन्नाम सकृच्छ्रवणात्*—श्रीभगवान् का पवित्र नाम इतना शक्तिमान है कि अपराधरहित होकर एक बार भी सुनने पर नीच मनुष्य भी पवित्र हो सकते हैं (*किरात-हूणान्ध पुलिन्द पुलकशाः*)। ऐसे मनुष्य जो चण्डाल कहलाते हैं, वे शूद्रों से भी नीच हैं, किन्तु वे भी

पवित्र नाम के श्रवणमात्र से पवित्र किये जा सकते हैं। हम अपनी वर्तमान स्थिति में भगवान् को मन्दिरों में श्रीविग्रह रूप में प्रत्यक्ष देख सकते हैं। भगवान् के साक्षात् दर्शन की तो बात ही क्या? भगवान् का श्रीविग्रह परमेश्वर से भिन्न नहीं। चूँकि भगवान् हमारे वर्तमान् मोहग्रस्त नेत्रों से नहीं दिखाई पड़ते इसलिए उन्होंने हमारे समक्ष ऐसे रूप में उपस्थित होना स्वीकार किया है, जिसे हम देख सकें। अतः मन्दिर में स्थित श्रीविग्रह को भौतिक नहीं समझना चाहिए। श्रीविग्रह को भोजन भेंट करके तथा उसे अलंकृत करके उसकी सेवा करने से मनुष्य को वही फल प्राप्त होता है, जो वैकुण्ठ में साक्षात् भगवान् की सेवा से प्राप्त होता है।

अथ भगवन्वयमधुना

त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः ।

सुरऋषिणा यत्कथितं

तावकेन कथमन्यथा भवति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; भगवन्—हे भगवन्; वयम्—हम; अधुना—इस समय; त्वत्—अवलोक—आपके दर्शन से; परिमृष्ट—धुल जाती हैं; आशय-मलाः—हृदय की दूषित कामनाएँ; सुर-ऋषिणा—देवताओं में ऋषि (नारद) द्वारा; यत्—जो; कथितम्—कहा गया; तामकेन—जो आपका भक्त है; कथम्—किस प्रकार; अन्यथा—और कुछ; भवति—हो सकता है।

अतः हे भगवन्! आपके दर्शन मात्र मेरे समस्त पापकर्मों के कल्मष एवं भौतिक आसक्ति तथा कामासक्त विषयों के फल, जिनसे मेरा मन तथा अन्तःस्थल पूरित था, सदा-सर्वदा के लिए धो दिये हैं। जो कुछ नारद मुनि ने भविष्यवाणी की है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, नारद मुनि के द्वारा शिक्षित किये जाने के कारण ही मुझे आपका सान्निध्य प्राप्त हो सका है।

तात्पर्य : यही पूर्ण विधि की प्रक्रिया है। मनुष्य को चाहिए कि वह नारद, व्यास तथा असित जैसे विद्वानों से शिक्षा ग्रहण करे और उनके सिद्धान्तों का पालन करे। तभी उसे अपने ही नेत्रों से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दर्शन हो सकेंगे। इसके लिए केवल अभ्यास चाहिए। अतः

श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यम् इन्द्रियैः। हम अपने कुंद नेत्रों तथा अन्य इन्द्रियों से श्रीभगवान् को नहीं देख सकते, किन्तु यदि विद्वानों के उपदेशों के अनुसार अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाते हैं, तो हम उनका दर्शन कर सकेंगे। श्रीभगवान् का दर्शन करते ही निश्चय रूप से अन्तःस्थल के समस्त पाप-फल कट जाते हैं।

विदितमनन्त समस्तं

तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम् ।

विज्ञाप्यं परमगुरोः

कियदिव सवितुरिव खद्योतैः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

विदितम्—ज्ञात; अनन्त—हे अनन्त; समस्तम्—सब कुछ; तव—तुम्हारा; जगत्-आत्मनः—समस्त जीवों का परमात्मा; जनैः—जनसमूह या जीवों द्वारा; इह—इस संसार में; आचरितम्—किया हुआ; विज्ञाप्यम्—सूचित किया गया; परम-गुरोः—परम स्वामी, परमेश्वर को; कियत्—कितना; इव—निश्चय ही; सवितुः—सूर्य को; इव—के समान; खद्योतैः—जुगनुओं के द्वारा।

हे अनन्त भगवान्! इस भौतिक जगत में जीवात्मा जो भी करता है, वह आपको भली-भाँति विदित रहता है क्योंकि आप परमात्मा हैं। सूर्य की उपस्थिति में जुगनुओं के प्रकाश से कुछ भी उद्दीप्त नहीं होता? इसी प्रकार, चूँकि आप सब कुछ जानने वाले हैं, अतः आपकी उपस्थिति में मेरे बताने के लिए कुछ भी नहीं है।

नमस्तुभ्यं भगवते

सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय ।

दुरवसितात्मगतये

कुयोगिनां भिदा परमहंसाय ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—हे भगवान्; सकल—समस्त; जगत्—दृश्य जगत की; स्थिति—पालन; लय—संहार; उदय—तथा उत्पत्ति; ईशाय—ईश्वर को; दुरवसित—समझ पाना असम्भव; आत्म-गतये—जिसकी अपनी स्थिति; कु-योगिनाम्—ऐन्द्रिय पदार्थों में आसक्त रहने वालों का; भिदा—भेददृष्टि के मिथ्या ज्ञान के कारण; परम-हंसाय—परम पवित्र को।

हे भगवान्! आप ही इस दृश्य जगत के स्रष्टा, पालक तथा संहारक हैं, किन्तु घोर

संसारी तथा भेदवादी जनों के पास वे नेत्र ही नहीं होते जिनसे वे आपको देख सकें। वे आपकी वास्तविक स्थिति को न समझ पाने के कारण इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि यह दृश्य-जगत आपके ऐश्वर्य से स्वतंत्र है। हे भगवान्! आप परम विशुद्ध हैं और सभी छहों ऐश्वर्यों से ओतप्रोत हैं। अतः मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : नास्तिक लोग सोचते हैं कि दृश्य जगत पदार्थ के संयोग से अकस्मात् निर्मित हुआ, उसमें ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। भौतिकतावादी तथाकथित रसायन विज्ञानी एवं नास्तिक विचारक इस दृश्य-जगत के सम्बन्ध में ईश्वर का नामोल्लेख भी करने से कतराते रहते हैं। उनके लिए ईश्वर की सृष्टि को समझ पाना असम्भव है क्योंकि वे घोर भौतिकतावादी होते हैं। श्रीभगवान् तो परमहंस हैं? अर्थात् परम शुद्ध, जबकि इन्द्रिय-सुख में आसक्त तथा भौतिक कार्य-कलापों में गधों की तरह जुटे रहने वाले पापी व्यक्ति अत्यन्त नीच मनुष्य होते हैं। नास्तिक प्रवृत्ति होने के कारण उनका सारा तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान वृथा है। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाते।

यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति
 यं चेकितानमनु चित्तय उच्चकन्ति ।
 भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नि
 तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्रमूर्ध्ने ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; श्वसन्तम्—चेष्टा से; अनु—पीछे-पीछे; विश्व-सृजः—दृश्य जगत के अधीक्षक; श्वसन्ति—चेष्टा करते हैं; यम्—जिसको; चेकितानम्—देखते हुए; अनु—पीछे; चित्तयः—समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ; उच्चकन्ति—देखती हैं; भू-मण्डलम्—विशाल ब्रह्माण्ड; सर्षपायति—सरसों के बीज सदृश बन जाता है; यस्य—जिसके; मूर्ध्नि—शीश पर; तस्मै—उको; नमः—नमस्कार है; भगवते—छः ऐश्वर्यों से पूर्ण, श्रीभगवान्; अस्तु—हो; सहस्र-मूर्ध्ने—सहस्र फनों वाले।

हे भगवान्! आपकी चेष्टा से ही भगवान् ब्रह्मा, इन्द्र तथा दृश्य जगत के अन्य अधीक्षक अपने अपने कार्यों में निरत हो जाते हैं। हे ईश्वर! आपके द्वारा भौतिक शक्ति को देखे जाने पर ही इन्द्रियाँ देख पाती हैं। अनन्त भगवान् समस्त ब्रह्माण्डों को अपने सर पर सरसों के

बीजों के समान धारण किये रहते हैं। हे सहस्र-फण वाले परम पुरुष! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

श्रीशुक उवाच

संस्तुतो भगवानेवमनन्तस्तमभाषत ।

विद्याधरपतिं प्रीतश्चित्रकेतुं कुरुद्वह ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; संस्तुतः—पूजित होकर; भगवान्—श्रीभगवान्; एवम्—इस प्रकार; अनन्तः—भगवान् अनन्त; तम्—उससे; अभाषत—बोले; विद्याधर-पतिम्—विद्याधरों के राजा; प्रीतः—प्रसन्न होकर; चित्रकेतुम्—चित्रकेतु; कुरु-द्वह—हे कुरु वंश में श्रेष्ठ.

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे कुरुवंश में श्रेष्ठ, महाराज परीक्षित! विद्याधरों के राजा चित्रकेतु द्वारा की गई स्तुति से अत्यधिक प्रसन्न होकर भगवान् अनन्तदेव ने इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

यन्नारदाङ्गिरोभ्यां ते व्याहृतं मेऽनुशासनम् ।

संसिद्धोऽसि तथा राजन्विद्यया दर्शनाच्च मे ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् संकर्षण ने उत्तर दिया; यत्—जो; नारद-अङ्गिरोभ्याम्—नारद तथा अंगिरा द्वारा; ते—तुमसे; व्याहृतम्—कहे गये; मे—मेरी; अनुशासनम्—पूजा; संसिद्धः—परम सिद्धि प्राप्त; असि—हो; तथा—उससे; राजन्—हे राजन्; विद्यया—मंत्र से; दर्शनात्—प्रत्यक्ष दर्शन से; च—भी; मे—मेरे।

भगवान् अनन्त देव ने इस प्रकार उत्तर दिया—हे राजन्! परम साधु नारद तथा अंगिरा द्वारा मेरे सम्बन्ध में दिये गये उपदेशों को अंगीकार करने के फलस्वरूप तुम दिव्य ज्ञान से भली-भाँति अवगत हो चुके हो। आध्यात्मिक ज्ञान में शिक्षित हो जाने के कारण अब तुमने मेरा साक्षात् दर्शन किया है, अतः तुम अब पूर्णतया सिद्ध हो चुके हो।

तात्पर्य : जीवन की सिद्धि इसी में है कि आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा ईश्वर के अस्तित्व तथा ईश्वर द्वारा इस संसार के सृजन, पालन एवं संहार की क्रिया को समझा जाये। पूर्ण ज्ञान होने पर नारद तथा अंगिरा एवं उनकी शिष्य-परम्परा के सदस्यों की संगति द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम विकसित

किया जा सकता है। तब मनुष्य भगवान् अनन्त का साक्षात् दर्शन कर सकता है। यद्यपि ईश्वर अनन्त हैं, किन्तु अहैतुकी दयावश वे भक्त को दिखाई पड़ते हैं। अपने वर्तमान बद्ध जीवन के कारण न तो हम ईश्वर को देख सकते हैं, न जान सकते हैं।

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यम् इन्द्रियैः ।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयम् एव स्फुरत्यदः ॥

“अपनी सांसारिक कलुषित इन्द्रियों के द्वारा कोई भी श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं के दिव्य स्वरूप को नहीं समझ सकता। जब वह ईश्वर की दिव्य सेवा से दिव्य रूप से संतुप्त हो जाता है तभी उसे इन सबकी अनुभूति है।” (भक्तिरसामृत सिन्धु १.२.२३४। यदि कोई नारद मुनि अथवा उनके प्रतिनिधि के निर्देशन में आध्यात्मिक जीवन बिताता है और भगवान् की सेवा करता है, तो वह ईश्वर के साक्षात्कार के योग्य हो सकता है। ब्रह्म-संहिता (५.३८) का कथन है—

प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं आदि ईश्वर गोविन्द की पूजा करता हूँ जो प्रेम-अंजन से आँजे हुए नेत्रों वाले भक्तों द्वारा सदैव देखे जाते हैं। वे भक्त के हृदय में स्थित अपने शाश्वत श्यामसुन्दर स्वरूप में देखे जाते हैं।” मनुष्य को अपने गुरु के उपदेशों का पालन करना चाहिए। इस प्रकार योग्य बनकर वह श्रीभगवान् को देख पाता है जैसाकि महाराज चित्रकेतु के उदाहरण से स्पष्ट है।

अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः ।

शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; वै—निस्सन्देह; सर्व-भूतानि—जीवात्माओं के विभिन्न रूपों में विस्तार करके; भूत-आत्मा—समस्त जीवात्माओं की परम आत्मा (उनके परम निर्देशक तथा भोक्ता); भूत-भावनः—समस्त जीवात्माओं के दृष्टिगोचर होने के कारण; शब्द-ब्रह्म—दिव्य शब्द का स्पंदन (हरे कृष्ण मंत्र); परम् ब्रह्म—परम सत्य; मम—मेरा; उभे—दोनों, उभय (शब्द तथा रूप); शाश्वती—नित्य; तनू—दोनों शरीर।

समस्त चर तथा अचर जीवात्माएँ मेरे ही प्रकाश (विस्तार) हैं और मुझसे पृथक् हैं। मैं ही समस्त जीवों का परमात्मा हूँ; मेरे प्रकाशित करने के ही कारण उनका अस्तित्व है। मैं ही ऊँकार तथा हरे कृष्ण हरे राम मंत्र जैसे दिव्य शब्दों का रूप हूँ और मैं ही परम सत्य हूँ। ये दोनों रूप—दिव्य शब्द तथा श्रीविग्रह का शाश्वत आनन्दमय दिव्य रूप—मेरे शाश्वत रूप हैं, वे भौतिक नहीं हैं।

तात्पर्य : नारद तथा अंगिरा ने चित्रकेतु को भक्तियोग का उपदेश दिया है। चित्रकेतु को अपनी भक्ति के ही कारण भगवान् के दर्शन हुए। भक्ति के द्वारा क्रमशः अग्रसर होकर मनुष्य जब ईश्वर के प्रेम के पद पर पहुंच जाता है (प्रेमा पुमार्थो महान्) तो उसे प्रतिक्षण ईश्वर का दर्शन होता है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है, जब कोई गुरु की बताई विधि से चौबीसों घंटे भक्ति में लगा रहता है (तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्) तो उसकी भक्ति अधिकाधिक आनन्दप्रद हो जाती है। तब प्रत्येक के हृदय में स्थित भगवान् भक्त से बातें करता है। (ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते)। चित्रकेतु को पहले उसके गुरुद्वय अंगिरा तथा नारद ने शिक्षा दी और उनके उपदेशों का पालन करते हुए वह इस योग्य बन सका कि ईश्वर का साक्षात् दर्शन कर सके। इसलिए अब भगवान् उसे ज्ञान का सार समझा रहे हैं।

ज्ञान का सार यह है कि वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो सत्य और दूसरी क्षणिक या मिथ्या। मनुष्य को इन दोनों का अस्तित्व समझना होगा। वास्तविक तत्त्व या सत्य तो ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् हैं। श्रीमद्भागवत (१.२.११) में कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दते ॥

“परम सत्य के ज्ञाता तत्त्वविद् इस अद्वैत वस्तु को ब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान् कहकर पुकारते हैं।” परम सत्य इन तीन रूपों में सदैव विद्यमान है, अतः ये तीनों मिलकर तत्त्व कहलाते हैं।

अतत्त्व से दो प्रकार के निसर्जन होते हैं—*कर्म* तथा *विकर्म*। *कर्म* से भौतिक दिन में सम्पन्न दैहिक कार्यों तथा रात्रि में स्वप्न के मानसिक कार्यों का बोध होता है। ये न्यूनाधिक ऐच्छिक कार्यकलाप हैं। किन्तु *विकर्म* से मिथ्या गतिविधियों का बोध होता है, जो मायाजाल के तुल्य हैं। ये ऐसे कर्म हैं जिनकी कोई सार्थकता नहीं है। उदाहरणार्थ, आधुनिक विज्ञानी यह कल्पना करते हैं कि रासायनिक संयोग से जीवन उत्पन्न किया जा सकता है और इसी को सिद्ध करने के लिए वे विश्व भर में अपनी-अपनी प्रयोगशालाओं में व्यस्त हैं यद्यपि पूरे इतिहास में आज तक कोई भौतिक संयोग के द्वारा जीवन उत्पन्न करने में सक्षम हुआ नहीं मिलता है। ऐसे कर्मों को *विकर्म* कहा गया है।

सभी भौतिक कार्य-कलाप वास्तव में छल हैं और इनमें प्रगति करना समय का अपव्यय मात्र है। इन्हें अकार्य कहते हैं। मनुष्य को भगवान् के उपदेशों से सीखना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.१७) में कहा गया है—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

“कर्म का तत्त्व समझ पाना अत्यन्त गहन है, अतः कर्म, विकर्म तथा अकर्म को भलीभाँति जानना चाहिए।” मनुष्य को इन्हें भगवान् से सीधे ग्रहण करना चाहिए जो अनन्तदेव के रूप में राजा चित्रकेतु को उपदेश दे रहे हैं क्योंकि उसने नारद तथा अंगिरा के उपदेशों का पालन करते हुए भक्ति की समुन्नत अवस्था प्राप्त कर ली थी।

यहाँ पर यह कहा गया है—*अहं वै सर्वभूतानि—ईश्वर* सब कुछ (*सर्वभूतानि*) है। जिसमें जीवात्माएँ तथा भौतिक तत्त्व सम्मिलित हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.४-५) में श्रीकृष्ण स्वयं

कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

“पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और मिथ्या अहंकार—ऐसे आठ प्रकार से विभाजित ये मेरी अपरा भौतिक शक्तियाँ हैं। हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा (जड़) शक्ति के अतिरिक्त मेरी एक परा (चेतन) शक्ति भी है, जो भौतिक शक्ति से संघर्ष करते हुए जीवों से बनी है और जो ब्रह्माण्ड को धारण किए हुए हैं।” जीवात्मा भौतिक तत्त्वों के ऊपर अपना आधिपत्य जताना चाहता है, किन्तु ये भौतिक तत्त्व तथा आध्यात्मिक स्फुलिंग श्रीभगवान् से निकलने वाली शक्तियाँ हैं। इसलिए ईश्वर का कथन है—*अहं वै सर्वभूतानि*—“मैं सब कुछ हूँ।” जिस प्रकार अग्नि से उष्मा तथा प्रकाश दोनों ही निकलते हैं उसी प्रकार ये दोनों शक्तियाँ—भौतिक तत्त्व तथा जीवात्माएँ—परमात्मा से उद्भूत हैं। इसलिए ईश्वर का कथन है—*अहं वै सर्वभूतानि*—“मैं भौतिक तथा आध्यात्मिक श्रेणियों का विस्तार करता हूँ।”

पुनः, परमात्मा ही बद्धजीवों के मार्गदर्शक हैं, जो भौतिक वातावरण से आबद्ध हो जाते हैं। इसलिए वे *भूतात्मा भूतभावनः* कहलाते हैं। वे जीवात्मा को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह अपनी स्थिति सुधार कर परम धाम को वापस जा सकता है अथवा यदि वह परम धाम को वापस नहीं जाना चाहता तो उसे परमात्मा अपनी भौतिक स्थिति सुधारने के लिए बुद्धि प्रदान करते हैं। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१५.१५) में की है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।” ईश्वर भीतर से ही जीव को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह कार्य कर सके। इसलिए पिछले श्लोक में यह कहा गया था कि ईश्वर की चेष्टा के बाद ही हम चेष्टा आरम्भ करते हैं। हम स्वतंत्र

रूप से चेष्टा करने का कोई कार्य कर सकने में असमर्थ हैं इसलिए ईश्वर भूतभावन हैं।

इस श्लोक में दिये गये ज्ञान की दूसरी विशेषता यह है कि शब्द-ब्रह्म भी परमेश्वर का एक रूप है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के नित्य, आनन्दमय स्वरूप को परम ब्रह्म रूप में स्वीकार किया है। बद्ध जीवात्मा मायावी वस्तु को सत्य मान बैठता है। यह माया या अविद्या कहलाती है। अतः वैदिक ज्ञान के अनुसार सर्वप्रथम भक्त बनना चाहिए और तब विद्या तथा अविद्या के भेद को समझना चाहिए जिसका विशद वर्णन ईशोपनिषद् में हुआ है। विद्या के स्तर पर वास्तविक रूप में होने पर मनुष्य स्वतः राम, कृष्ण तथा संकर्षण जैसे रूपों में श्रीभगवान् को समझ पाता है। वैदिक ज्ञान को भगवान् का श्वास कहते हैं। वैदिक ज्ञान के आधार पर ही सारे कार्यकलाप प्रारम्भ होते हैं। इसलिए भगवान् का कथन है कि जब मैं चेष्टा करता हूँ या साँस लेता हूँ तभी भौतिक ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है और क्रमशः विभिन्न कार्य चालू होते हैं। भगवद्गीता में ईश्वर का कथन है प्रणव सर्ववेदेषु—“मैं समस्त मंत्रों में ॐ शब्द हूँ।” वैदिक ज्ञान दिव्य शब्द ध्वनि प्रणव या ऊँकार से प्रारम्भ होती है। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे भी वह दिव्य ध्वनि (शब्द) है। अभिन्नत्वान् नामनामिनोः—ईश्वर के पवित्र नाम तथा स्वयं ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है।

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि सन्ततम् ।

उभयं च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

लोके—इस भौतिक जगत में; विततम्—विस्तीर्ण (भौतिक सुख के प्रसंग में); आत्मानम्—जीवात्मा; लोकम्—भौतिक जगत; च—भी; आत्मनि—जीवात्मा में; सन्ततम्—विस्तृत; उभयम्—दोनों (भौतिक जगत तथा जीवात्मा); च—तथा; मया—मेरे द्वारा; व्याप्तम्—व्याप्त; मयि—मुझमें; च—भी; एव—निस्सन्देह; उभयम्—दोनों ही; कृतम्—उत्पन्न।

बद्धजीव इस भौतिक जगत में, जिसे वह सुख के साधनों से भरा हुआ समझता है, यह सोचकर विस्तार करता है कि वही इस जगत का भोक्ता है। इसी प्रकार यह भौतिक जगत जीवात्मा के सुख के साधनस्वरूप विस्तार करता है। इस प्रकार दोनों ही विस्तार करते हैं,

किन्तु दोनों ही मेरी शक्तियाँ होने के कारण मुझसे युक्त हैं। परमेश्वर होने के कारण मैं इन फलों का कारण हूँ और मनुष्य को यह जानना चाहिए कि ये दोनों ही मुझमें व्याप्त हैं।

तात्पर्य : मायावादी दर्शन सभी वस्तुओं को गुण की दृष्टि से श्रीभगवान् या परब्रह्म के तुल्य मानता है, फलतः प्रत्येक वस्तु को पूजनीय समझता है। मायावाद को इस खतरनाक सिद्धान्त के कारण सामान्य लोग नास्तिकता की ओर प्रवृत्त हुए हैं। इस सिद्धान्त के बल पर व्यक्ति अपने को ईश्वर समझता है, जो सत्य नहीं है। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*) कि वास्तविकता तो यह है कि समस्त दृश्य जगत परमेश्वर की शक्तियों का प्रसार है। ये शक्तियाँ भौतिक तत्त्वों तथा जीवात्माओं के रूप में प्रकट होती हैं। जीवात्माएँ भ्रमवश यह मान बैठती हैं कि भौतिक तत्त्व उनके भोग के साधन हैं और वे अपने को उनका भोक्ता मान बैठती हैं। किन्तु इनमें से कोई भी स्वतंत्र नहीं, ये दोनों भगवान् की शक्तियाँ हैं। इनका मूल कारण श्रीभगवान् ही हैं। यद्यपि ईश्वर की शक्तियों का प्रसार ही यह मूल कारण है किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ईश्वर ने स्वयं का विभिन्न प्रकार से विस्तार किया है। मायावादियों के सिद्धान्त की भर्त्सना करते हुए गीता में भगवान् का कथन है—*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः*—सभी जीव मुझमें स्थित हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आश्रित है और उनकी शक्तियों का विस्तार मात्र है किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सारी वस्तुएँ उन्हीं के समान पूजनीय हैं। भौतिक विस्तार तो क्षणिक है, जबकि ईश्वर क्षणिक नहीं है। जीवात्माएँ ईश्वर के अंश हैं, किन्तु वे स्वयं ईश्वर नहीं हैं। इस जगत में जीवात्माएँ अकल्पनीय नहीं हैं, किन्तु ईश्वर तो है। अतः यह सिद्धान्त कि ईश्वर की शक्तियाँ उन्हीं के विस्तार होने के कारण ईश्वर के ही समान हैं, भ्रामक है।

यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि ।

आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः ॥ ५३ ॥

एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः ।

मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; सुषुप्तः—सोया हुआ; पुरुषः—व्यक्ति; विश्वम्—समस्त ब्रह्माण्डों को; पश्यति—देखता है; च—भी; आत्मनि—अपने भीतर; आत्मानम्—अपने आपको; एक-देश-स्थम्—एक स्थान में स्थित होकर; मन्यते—मानता है; स्वप्ने—स्वप्नावस्था में; उत्थितः—जगकर; एवम्—इस प्रकार; जागरण-आदीनि—जागृत अवस्था तथा अन्य; जीव-स्थानानि—जीव की विभिन्न स्थितियाँ; च—भी; आत्मनः—श्रीभगवान् की; माया-मात्राणि—माया शक्ति के प्रदर्शन; विज्ञाय—जानकर; तत्—उनका; द्रष्टारम्—जनक या द्रष्टा; परम्—परमात्मा; स्मरेत्—स्मरण करना चाहिए।

जब मनुष्य गाढ़ निद्रा में होता है, तो वह स्वप्न देखता है और अपने अन्तर में विशाल पर्वत तथा नदियाँ या सम्भवतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भी देखता है, यद्यपि ये सारी वस्तुएँ अत्यन्त दूर हैं। किन्तु कभी कभी जब वह स्वप्न से जगता है, तो अपने को मनुष्य रूप में एक स्थान पर बिस्तर पर लेटा पाता है। तब वह अपने को अनेक स्थितियों में पाता है यथा विशेष राष्ट्रीयता, परिवार आदि में। प्रगाढ़-निद्रा, स्वप्न तथा जाग्रत ये समस्त अवस्थाएँ भगवान् की ही शक्तियाँ हैं। मनुष्य को इन अवस्थाओं के मूल स्रष्टा को, जो इनसे प्रभावित नहीं होता, सदैव स्मरण रखना चाहिए।

तात्पर्य : जीवात्माओं की जागृत, स्वप्न, सुषुप्त अवस्थाओं में से कोई भी यथार्थ नहीं हैं। ये बद्ध जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की झलकियाँ हैं। भले ही अनेक पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, मधु-मक्खियाँ, शेर तथा सर्प कितनी ही दूर स्थित क्यों न हो, किन्तु स्वप्न में कोई उन्हें पास दिखने की कल्पना कर सकता है। जिस प्रकार रात्रि में सूक्ष्म स्वप्न दिखते हैं उसी प्रकार जीवात्मा जगने पर भी राष्ट्र, जाति, समाज, धन, उच्च प्रासाद, बैंक बचत, पद तथा यश के स्थूल स्वप्न में खोया रहता है। ऐसी दशा में मनुष्य को यह समझना चाहिए कि भौतिक जगत के संसर्ग से ही ऐसा होता है। जीवन के विभिन्न रूपों में वह विभिन्न पदों पर स्थित है और ये माया की सृष्टियाँ हैं, जो भगवान् के निर्देश से कार्यरत रहती हैं। फलतः भगवान् ही परम कर्ता है और बद्धजीव का कर्तव्य है कि वह इन परमकर्ता श्रीकृष्ण का स्मरण करे। जीवात्मा के रूप में हम सभी प्रकृति की तरंगों में बहाए लिए जा रहे हैं, जो ईश्वर के निर्देशानुसार कार्य करती हैं (मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्)।

भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—*मिछे मायार वशे, याच्छ भेसेऽ, खाच्छ हाबुडुबु, भाइ*—स्वप्न तथा जागृति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में तुम माया की तरंगों में क्यों बहे चले जा रहे हो? ये सब माया की सृष्टियाँ हैं। हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि माया के अध्यक्ष श्रीकृष्ण का स्मरण करते रहें। ऐसा करने के लिए शास्त्रों का उपदेश है—*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्*—मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर के नाम का अर्थात् *हरेकृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम* हरे हरे का निरन्तर जप करे। परमेश्वर का साक्षात्कार तीन विभिन्न परम रूपों में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्—में होता है किन्तु परम साक्षात्कार तो भगवान् ही हैं। जो भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करता है, वह ही पूर्ण महात्मा है (*वासुदेवः सर्व इति स महात्मा सुदुर्लभः*)। मनुष्य जन्म पाकर हमें भगवान् को समझना चाहिए क्योंकि इससे प्रत्येक अन्य वस्तु समझ में आ सकेगी। *यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*। इस वैदिक शिक्षा से मात्र श्रीकृष्ण को जान लेने से ब्रह्म, परमात्मा, प्रकृति, माया, दिव्य शक्ति इत्यादि सभी जाने जा सकते हैं। प्रकृति भगवान् की अध्यक्षता में कार्य करती है और हम सब प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं के द्वारा दूर ले जाये जा रहे हैं। आत्म-साक्षात्कार के लिए सदैव श्रीकृष्ण को स्मरण रखना होगा। जैसा *पद्मपुराण* में कहा गया है—*स्मर्तव्यः सततं विष्णुः*—हमें चाहिए कि भगवान् विष्णु का सदैव स्मरण करें। *विस्मर्तव्यो न जातुचित्*—हमें भगवान् को कभी नहीं भूलना चाहिए। यही जीवन की सिद्धि है।

येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मनस्तदा ।
सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

येन—जिसके (परब्रह्म) द्वारा; प्रसुप्तः—सोया हुआ; पुरुषः—व्यक्ति; स्वापम्—स्वप्न के विषय को; वेद—जानता है; आत्मनः—अपना; तदा—उस समय; सुखम्—सुख; च—भी; निर्गुणम्—भौतिक परिवेश से किसी प्रकार के सम्पर्क से रहित, सम्पर्कहीन; ब्रह्म—परमात्मा; तम्—उसको; आत्मानम्—सर्वव्यापी; अवेहि—जानो; माम्—मुझको।

तुम मुझे परब्रह्म जानो, जो सर्वव्यापी परमात्मा है और जिसके माध्यम से सुप्त जीवात्मा अपनी सुप्तावस्था तथा इन्द्रियातीत सुखों का अनुभव कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह

है। कि सुप्त जीवात्माओं की गतिविधियों का कारण मैं ही हूँ।

तात्पर्य : जब जीवात्मा मिथ्या अहंकार से मुक्त हो जाता है, तो वह ईश्वर के अंश रूप में, अर्थात् आत्मा रूप में अपनी श्रेष्ठ स्थिति को समझता है। फलतः सुप्तावस्था में भी जीवात्मा ब्रह्म के कारण सुख का अनुभव कर सकता है। भगवान् का कथन है कि वह ब्रह्म, वह परमात्मा तथा वह भगवान् मैं ही हूँ। श्रील जीव गोस्वामी ने अपने ग्रंथ *क्रम सन्दर्भ* में ऐसा लिखा है।

उभयं स्मरतः पुंसः प्रस्वापप्रतिबोधयोः ।

अन्वेति व्यतिरिच्येत तज्ज्ञानं ब्रह्म तत्परम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

उभयम्—दोनों अवस्थाएँ (निद्रा तथा जागृति); स्मरतः—स्मरण रखते हुए; पुंसः—पुरुष का; प्रस्वाप—निद्रा के समय चेतना का; प्रतिबोधयोः—तथा जगते रहने पर चेतना का; अन्वेति—विस्तार होता है; व्यतिरिच्येत—के परे पहुँच सकता है; तत्—वह; ज्ञानम्—ज्ञान; ब्रह्म—परब्रह्म; तत्—वह; परम्—दिव्य ।

यदि निद्रा के समय देखे गये स्वप्न केवल परमात्मा द्वारा ही देखे गए विषय हैं, तो फिर जीवात्मा, जो परमात्मा से पृथक् है, स्वप्नों के क्रियाकलापों को क्यों स्मरण रखता है? एक व्यक्ति के अनुभवों को दूसरा नहीं समझ सकता। अतः जीवात्मा, जो तथ्यों का ज्ञाता है और स्वप्न तथा जागृति में प्रकट होने वाली घटनाओं के विषय में जिज्ञासा करता है आकस्मिक कार्यों से पृथक् है। जानने वाला तो ब्रह्म है। दूसरे शब्दों में जानने का गुण जीवात्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित है। इसलिए जीवात्मा को भी स्वप्न तथा जागृति की घटनाओं का अनुभव हो सकता है। दोनों दशाओं में ज्ञाता वही रहता है और गुणरूप में वह परब्रह्म से एकाकार है।

तात्पर्य : जीवात्मा गुणों में परब्रह्म के ही समान है, किन्तु मात्रा में जीवात्मा ब्रह्म का अंश होने से परब्रह्म के समान नहीं हो सकता। गुणों में ब्रह्म होने के कारण जीवात्मा स्वप्न में तो विगत कार्यकलापों को स्मरण रख सकता है और जागृत अवस्था की वर्तमान् गतिविधियों को भी जान सकता है।

यदेतद्विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः ।
ततः संसार एतस्य देहादेहो मृतेर्मृतिः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; एतत्—यह; विस्मृतम्—भूला हुआ; पुंसः—जीवात्मा का; मत्-भावम्—मेरी स्थिति; भिन्नम्—भिन्न, विलग;
आत्मनः—परमात्मा से; ततः—उससे; संसारः—भौतिक, बद्ध जीवन; एतस्य—जीवात्मा का; देहात्—एक शरीर से;
देहः—दूसरा शरीर; मृतेः—एक मृत्यु से; मृतिः—दूसरी मृत्यु।

जब जीवात्मा अपने आपको मुझसे भिन्न मानकर ज्ञान तथा आनन्द में मुझसे अपने गुण रूप में दिव्य तादात्म्य को भूल जाता है तभी उसका यह भौतिक बद्ध जीवन प्रारम्भ होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि वह मुझमें तादात्म्य न मानकर अपने सांसारिक विस्तारों में, यथा पत्नी, सन्तान तथा धन में अभिरुचि दिखाने लगता है। इस प्रकार अपने कर्मों के प्रभाव से एक शरीर के बाद दूसरा शरीर और एक मृत्यु के बाद दूसरी मृत्यु का चक्कर लगाता रहता है।

तात्पर्य : सामान्यतः मायावादी दार्शनिक अथवा उनसे प्रभावित व्यक्ति अपने आपको श्रीभगवान् के ही सदृश उत्तम मानते हैं। यह उनके बद्ध जीवन का कारण है। वैष्णव कवि जगदानन्द पंडित ने प्रेम-विवर्त में कहा है—

कृष्ण-बहिर्मुख हजा भोग वांछा करे।

निकट-स्थ माया तारे जापटिया धरे ॥

ज्योंही जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूलकर परमेश्वर से एकाकार होने की चेष्टा करता है, उसी क्षण बद्ध जीवन शुरू हो जाता है। जीवात्मा तथा परमात्मा में गुणात्मक तथा मात्रात्मक सादृश्य का विचार उठना ही बद्ध जीवन का मूल कारण है। यदि कोई परमेश्वर तथा जीवात्मा के अन्तर को भूलता है, तो बद्ध जीवन शुरू हो जाता है। बद्ध जीवन का अभिप्राय है एक शरीर त्याग कर दूसरा ग्रहण करना और मरने के बाद पुनः मृत्यु को स्वीकार करना। मायावादी ज्ञानी का दर्शन कहता है—*तत् त्वम् असि*—अर्थात् तुम ईश्वर ही हो। वह भूल जाता है

कि उसका यह उपदेश जीवात्मा की तटस्था स्थिति पर लागू होता है, जो सूर्य प्रकाश के समान है। सूर्य में उष्मा तथा प्रकाश दोनों रहते हैं एवं सूर्य प्रकाश में भी ये दोनों विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार सूर्य तथा सूर्य प्रकाश गुण-रूप से एक ही हैं, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सूर्य का प्रकाश सूर्य पर आश्रित है। जैसा भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—“मैं ब्रह्म का मूल स्रोत हूँ।” सूर्य गोलक की उपस्थिति के कारण सूर्य-प्रकाश महत्त्वपूर्ण है। ऐसा नहीं है कि सूर्यप्रकाश की सर्वव्यापकता के कारण सूर्यगोलक महत्त्वपूर्ण है। इस तथ्य को न समझना तथा उसे भूलना ही माया है। अपनी तथा परमेश्वर की स्वाभाविक स्थिति के विस्मरण से ही मनुष्य माया या संसार अर्थात् बद्ध जीवन में प्रवेश करता है। इस सम्बन्ध में मध्वाचार्य का कहना है—

सर्वभिन्नं परात्मानं विस्मरन् संसरेदिह ।

अभिन्नं संस्मरन् याति तमो नास्त्यत्र संशयः ॥

जब मनुष्य यह सोचता है कि वह सब प्रकार से परमात्मा से अभिन्न है, तो वह निश्चित रूप से अंधकार (*तमः*) में रहता है।

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम् ।

आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचित्क्षेममाप्नुयात् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; इह—इस संसार (विशेषतः भारतवर्ष की इस पवित्र भूमि पर) में; मानुषीम्—मनुष्य की; योनिम्—योनि; ज्ञान—वैदिक शास्त्रों के माध्यम से ज्ञान का; विज्ञान—तथा जीवन में उस ज्ञान का व्यवहार; सम्भवाम्—सम्भाव्यता, सम्भावना; आत्मानम्—अपना वास्तविक स्वरूप; यः—जो भी; न—नहीं; बुद्ध्येत—समझता है; न—कभी नहीं; क्वचित्—किसी समय; क्षेमम्—जीवन में सफलता; आप्नुयात्—प्राप्त कर सकता है।

वैदिक ज्ञान तथा उसके व्यवहार के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार द्वारा मनुष्य अपने जीवन में सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ऐसा भारत में जन्म लेने वाले मनुष्य के लिए विशेष रूप से सम्भव है। जो मनुष्य ऐसी उपयुक्त परिस्थिति में जन्म लेकर अपने आपको नहीं जान पाता वह परम सिद्धि को प्राप्त कर सकने में अक्षम रहता है भले ही वह स्वर्ग लोक को

प्राप्त क्यों न हो जाए।

तात्पर्य : इस कथत की पुष्टि श्रीचैतन्य-चरितामृत (आदि ९.४१) में मिलती है। भगवान् चैतन्य ने कहा है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि, कर पर-उपकार ॥

भारत भूमि में जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी विशेषतया मानव वैदिक ज्ञान तथा उसके व्यवहार के द्वारा परम साफल्य प्राप्त कर सकता है। स्वयंसिद्ध होने पर वह सम्पूर्ण मानव समाज के आत्म-साक्षात्कार के लिए सेवा-कार्य कर सकता है। परोपकार करने की यह सर्वोत्तम विधि है।

स्मृत्वेहायां परिक्लेशं ततः फलविपर्ययम् ।

अभयं चाप्यनीहायां सङ्कल्पाद्विरमेत्कविः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

स्मृत्वा—स्मरण करके; ईहायाम्—कर्मफल के उद्देश्य से किये गये कर्म के क्षेत्र में; परिक्लेशम्—शक्ति का क्षय तथा दयनीय स्थिति; ततः—उससे; फल-विपर्ययम्—इच्छा से विपरीत फल; अभयम्—निर्भयता; च—भी; अपि—निस्सन्देह; अनीहायाम्—जब कर्मफल की कोई आकांक्षा नहीं रह जाती; सङ्कल्पात्—भौतिक कामना से; विरमेत्—रुक जाना चाहिए; कविः—ज्ञानी पुरुष।

यह स्मरण रखते हुए कि कर्मफल हेतु सम्पन्न कर्मों के क्षेत्र में बड़ी बड़ी अड़चनें आती हैं और इच्छा से विपरीत फल प्राप्त होते हैं चाहे वे भौतिक कर्मों से उत्पन्न हों या वैदिक ग्रंथों द्वारा बताये सकाम कर्मों के फल हों, बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह सकाम कर्मों की इच्छा का परित्याग कर दे क्योंकि ऐसी चेष्टाओं से जीवन का परम उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकता। दूसरी ओर यदि कोई कर्मफल के हेतु निष्काम भाव से कर्म करता है अर्थात् वह भक्ति-कार्यों में लगता है, तो दयनीय स्थितियों से मुक्त रहकर वह जीवन का परम उद्देश्य प्राप्त कर सकता है। इस पर विचार करते हुए मनुष्य को चाहिए कि भौतिक कामनाओं का परित्याग करे।

सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः ।
ततोऽनिवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

सुखाय—सुख के लिए; दुःख-मोक्षाय—दुख से छुटकारा पाने के लिए; कुर्वाते—करते हैं; दम्-पती—पत्नी तथा पति;
क्रियाः—कर्म; ततः—उससे; अनिवृत्तिः—विश्राम न मिलना; अप्राप्तिः—लाभ न होना; दुःखस्य—दुख का; च—भी;
सुखस्य—सुख का; च—भी ।

पुरुष तथा स्त्री जैसे दम्पति के रूप में कई प्रकार से पारस्परिक सहयोग करके सुख प्राप्त करने तथा दुख को कम करने के लिए कई प्रकार से योजना बनाते हैं; किन्तु कामनाओं से पूर्ण होने के कारण उनके कर्मों से न तो कभी सुख प्राप्त होता है और न दुख में कमी आती है। उल्टे, ये भारी दुख के कारण बनते हैं।

एवं विपर्ययं बुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम् ।
आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम् ॥ ६१ ॥
दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा ।
ज्ञानविज्ञानसन्तुप्तो मद्भक्तः पुरुषो भवेत् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विपर्ययम्—विपरीत; बुद्ध्वा—समझकर; नृणाम्—मनुष्यों का; विज्ञ-अभिमानिनाम्—जो अपने को विज्ञान से पूर्ण मानते हैं; आत्मनः—अपने आप का; च—भी; गतिम्—उन्नति; सूक्ष्माम्—समझने में अत्यन्त कठिन;
स्थान-त्रय—जीवन की तीन दशाएँ (गाढ़ निद्रा, स्वप्न तथा जागृति); विलक्षणाम्—से विलग; दृष्ट—प्रत्यक्ष देखा हुआ;
श्रुताभिः—अथवा अधिकारियों की सूचना से समझा हुआ; मात्राभिः—वस्तुओं से; निर्मुक्तः—मुक्त होकर; स्वेन—अपने आप से; तेजसा—विवेक से; ज्ञान-विज्ञान—ज्ञान तथा इस ज्ञान के व्यवहार से; सन्तुप्तः—पूर्णतया सन्तुष्ट; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; पुरुषः—पुरुष; भवेत्—हो जाना चाहिए।

मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने भौतिक अनुभव पर गर्व करते हैं उन्हें जगते, सोते तथा प्रगाढ़ निद्रा में कल्पित किए गये फलों के विपरीत फल मिलते हैं। मनुष्य को यह भी समझना चाहिए कि यद्यपि भौतिकतावादी व्यक्ति के लिए आत्मा को देख पाना दुष्कर है, तो भी वह इन समस्त स्थितियों से परे है और उसे अपने विवेक के आधार पर इस जन्म में तथा अगले जन्म में कर्म-फल की इच्छा का परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार दिव्य ज्ञान में अनुभवी बनकर ही किसी को मेरा भक्त बनना चाहिए।

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुण्यबुद्धिभिः ।

स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम् ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; एव—निस्सन्देह; मनुजैः—मनुष्यों के द्वारा; योग—भक्ति योग के द्वारा, परमेश्वर से जुड़ने की विधि द्वारा; नैपुण्य—निपुणता; बुद्धिभिः—बुद्धिमानों के द्वारा; स्व-अर्थः—जीवन का परम उद्देश्य; सर्व-आत्मना—सब प्रकार से; ज्ञेयः—जानने योग्य; यत्—जो; पर—दिव्य ईश्वर का; आत्म—तथा आत्मा का; एक—एकत्व का; दर्शनम्—समझ ।

जो पुरुष जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे परम पुरुष तथा जीवात्मा का भलीभाँति अवलोकन करें जो अंश तथा पूर्ण होने के कारण गुण रूप से एक ही हैं। जीवन की यही सबसे बड़ी समझ है। इससे बढ़कर और कोई सत्य नहीं है।

त्वमेतच्छ्रद्धया राजन्नप्रमत्तो वचो मम ।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो धारयन्नाशु सिध्यसि ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एतत्—यह; श्रद्धया—परम श्रद्धापूर्वक; राजन्—हे राजन्; अप्रमत्तः—प्रमत्त हुए बिना किसी अन्य निष्कर्ष को न पहुँचते हुए; वचः—उपदेश; मम—मेरा; ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नः—ज्ञान तथा विज्ञान से भलीभाँति अवगत होकर; धारयन्—स्वीकार करते हुए; आशु—शीघ्र ही; सिध्यसि—सिद्ध हो सकोगे ।

हे राजन्! यदि तुम भौतिक सुख से विरक्त रह कर परम श्रद्धा सहित मुझसे संलग्न होकर ज्ञान तथा इसकी जीवन में व्यवहारिकता में निपुण बन कर मेरे इस निष्कर्ष को स्वीकार करोगे तो तुम परम सिद्धि को प्राप्त होगे।

श्रीशुक उवाच

आश्वास्य भगवानित्थं चित्रकेतुं जगद्गुरुः ।

पश्यतस्तस्य विश्वात्मा ततश्चान्तर्दधे हरिः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; आश्वास्य—आश्वासन देकर; भगवान्—भगवान्; इत्थम्—इस प्रकार; चित्रकेतुम्—राजा चित्रकेतु को; जगद्-गुरुः—परम गुरु; पश्यतः—देखते देखते; तस्य—उसके; विश्व-आत्मा—समस्त ब्रह्माण्ड का परमात्मा; ततः—वहाँ से; च—भी; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गया; हरिः—भगवान् हरिः ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—इस प्रकार चित्रकेतु को उपदेश देकर और उसे सिद्धि का आश्वासन देकर जगद्गुरु परमात्मा भगवान् संकर्षण उस स्थान से चित्रकेतु के देखते-देखते अन्तर्धान हो गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंध के अन्तर्गत “राजा चित्रकेतु की परमेश्वर से भेंट” नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।